शिक्षा-दर्शन

लेखक
प्रा० मनमोहन सहगल
एम० ए० (दर्शन व हिन्दी); बी० टी०

प्रकाशक
दिल्ली पुस्तक सदन
नई दिल्ली : पटना

प्रकाशक :
दिल्ली पुस्तक सदन
१२६, कमला मार्केट
नई दिल्ली ।

प्रथम संस्करण
१९५८

मूल्य ५.००

मुद्रक :
राजकमल प्रिंटिंग प्रेस
तुर्कमान गेट, दिल्ली ।

भूमिका

मुझे इस पुस्तक की भूमिका लिखने में अत्यन्त प्रसन्नता है। इसके कई कारण हैं। शिक्षा-क्षेत्र में 'शिक्षा-दर्शन' एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सम्पूर्ण शिक्षा 'आदर्श-विधियों' को ही केन्द्रित किये है। अतः शैक्षणिक विचारों के निमित्त दार्शनिक-आधारों का अध्ययन परमावश्यक है। अत्यन्त खेद है कि व्यवहारवादी शिक्षा ने इसको ग्रहण सा ग्रसित कर दिया है। अतः इस आवश्यकता की पूर्ति की ओर, इस प्रकार की पुस्तक शिक्षा-क्षेत्र में, शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित कराने के लिए घण्टी का कार्य करेगी।

पुनः मुझे सन्तोष है कि पुस्तक का लेखक मेरा ही एक पुराना विद्यार्थी है। जिसने शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय परम्पराओं का समुचित रूपेण वर्णन किया है। उसकी बहुमुखी प्रगति, इस पुस्तक के प्रकाशन में उसी के योग्यतानुकूल है। वह दर्शन-शास्त्र तथा हिन्दी में एम० ए० होने के साथ बी० टी० व साहित्यरत्न भी है। मुझे इस विषय पर किसी ऐसी पुस्तक का ज्ञान नहीं। जहाँ पर इन तीनों आवश्यकताओं की पूर्ति हुई हो। लेखक बहुधा दर्शन-शास्त्र में एम० ए० अथवा बी० टी० अथवा दोनों योग्यताएँ नहीं रखते, किन्तु उचित-योग्यता तथा हिन्दी-प्रणाली से अनभिज्ञ रहते हैं। हिन्दी साहित्य में एक ऐसे, सभी योग्यताओं से पूर्ण, लेखक का होना, जो कि एक उच्च स्तर की पुस्तक लिख सके, उसके लिए सौभाग्य की बात है।

यह एक उच्च स्तर की रचना है। केवल अनुवाद मात्र नहीं। विषय को अत्यन्त सुगढ़तापूर्वक तथा वैज्ञानिक ढंग में प्रस्तुत किया है। लेखन-विधि आकर्षक है। और पारिभाषिक शब्दों का चुनाव भी न्याय संगत है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक समस्त भारत में 'शिक्षा-दर्शन' विषय पर पाठ्-क्रम के रूप में स्वीकृत होगी।

एस० पी० कानल

अध्यक्ष,
दर्शन-विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज,
नई दिल्ली

दो शब्द

—शिक्षा-दर्शन के सम्बन्ध में महान लेखकों द्वारा लिखी अनेक पुस्तकें देखने, अध्ययन और मनन करने के सुअवसर मिले, परन्तु एक कमी खटकती रही—वह थी हिन्दी-साहित्य का इस विभूति से लगभग वंचित होना। बड़े-बड़े सिद्धांत, भव्य विचार-धाराएँ और सुयोग्य प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में जन्मे, पनपे और क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में समर्थ बने। उन्होंने शिक्षा को बदला, उठाया और सीमारहित कर दिया। भारतवर्ष में भी उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप बीज की भान्ति कभी भुक्त और कभी लुप्त हुआ—किन्तु यहाँ का साधारण अध्यापक लगभग वास्तविकता से बेखबर ही रहा। उसने समय की माँग के साथ अपने को बदलने का सम्भवतः प्रयत्न किया, लेकिन परिवर्तन या शिक्षा-क्षेत्र की सामयिक क्रान्तियों की पृष्ठभूमि और कारण वह न जान सका। जाने भी तो कैसे, जानने का माध्यम—साहित्य—लगभग पूर्णतः अभारतीय-भाषा में होने से उसकी पहुँच से दूर था। भारतीय भाषाओं के लेखकों ने सम्भवतः ऐसे विषयों को बौद्धात्मक-साहित्य की कोटि में स्थान देना भी अनावश्यक समझा था। अभी तक ऐसे लोगों की कमी न थी, जो शिक्षा को मनोविज्ञान और दर्शन से बिल्कुल बाहर डण्डे का कर्तव्य मानते थे। पुराने अध्यापक आज भी अपने उस्तादों—मुल्लाओं और पण्डितों—द्वारा की गई पिटाई की कमी अपने शिष्यों पर दण्ड-प्रहार से निकालने के सपने ले रहे थे। भला ऐसे में उन्हें बालक के भाव-विकास और शैक्षणिक-पृष्ठभूमि की दार्शनिक विचारधारा को समझने का समय ही कब उपलब्ध हो सकता था और यदि होता भी तो इस 'अावश्यक' विषय में कोई क्यों सिर खपाता।

—पुरानी बात है, दानी, जनता का धन ही दान करता है। लेता है लाभ-रूप में, देता है आभार-रूप में। वही दशा शिक्षा की भी हो चुकी थी। पश्चिम ने भारत से बहुत कुछ सीखा, अपने रंग में रंगा और अपना कहकर फिर भारत तक पहुँचा दिया। भारतवासी, भोला भारतवासी, युगों पहले सब कुछ छिन जाने पर यह भी भूल बैठा कि उसके पास कभी कुछ था। जब उसे मिला, उसने साभार ग्रहण किया। उसके प्रभाव में अपने को बदला और कह दिया, देव ! तुम्हारी कृपा। लेकिन नहीं, सच्चाई बनावट के घूंघटों से छिपा नहीं करती। शिक्षा-क्षेत्र में पाश्चात्य-देन भी प्रकट हो गई

और इतिहास साक्षी है कि भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति ही 'पुरानी शराव-नई बोतल' की तरह पश्चिमी वनी। आज भारतीय स्कूलों में कोई भी भला नियम या सुघड़ पद्धति पाश्चात्य और मुग़लकालीन प्रभाव में आये दोषों की कोई भी परम्परा 'विशुद्ध-भारतीय' कहलाने लगी। मैं इसका एक ही कारण समझ पाया हूँ, और वह है भारतीयों में घटियापन की भावना। याद नहीं आता कि कहाँ पढ़ा था मैंने, शायद लॉर्ड मैकॉलि के शव्द थे किसी लेखक ने उद्धृत किए, लिखा था : 'If you want to destroy the culture of a nation, destroy its history first, the culture will be destroyed of its own accord.' अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य को भारत में पुष्ट करने के लिए यही नीति अपनाई थी। भारतीयों का इतिहास छिना, भारतीय अपनी संस्कृति को भूलकर, गांठ में लाल वँधा भिखारी वन गया। प्रत्येक जूठे टुकड़े पर कुत्ते की भाँति दुम हिलाना, आँखों में कृतज्ञता भरना और अत्याचार सहकर भी वफ़ादारी का महत्व कम न होने देना उसकी विशेषता समझी जाने लगी। मैं कह नहीं सकता कि इससे भारतीयों को हानि हुई या लाभ, परन्तु यह सच है कि उनका पुनरुत्थान अपने वास्तविक इतिहास (राजनैतिक और सांस्कृतिक) के गम्भीर अध्ययन के विना सम्भव नहीं।

—युग वदल गया, युग के साथ-साथ युग वाले भी बदले। भारत के शिक्षा-शास्त्रियों को भी यह विश्वास होने लगा कि भारतीय-शिक्षा, जो काम, अर्थ, धर्म, तथा मोक्ष सबको लक्ष्य करती थी, वह आधुनिक पाश्चात्य एकांगी विचारधाराओं, प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, व्यवहारवाद या भौतिकवाद और पदार्थवाद से वौनी क्योंकर हो सकती है। उसका स्थान ऊँचा होगा, ऐसा जानकर गवेषणा की गई, जो कि आज पर्याप्त मात्रा में उन्नति कर चुकी है। यह भी सर्वमान्य ही है कि भारत में शिक्षा को कभी दर्शन के क्षेत्र से जुदा नहीं किया गया और मांस-नख सम्वन्ध के इन दोनों विषयों को जुदा करने की कल्पना की भी नहीं जा सकती। वास्तव में नासमझी के कारण दर्शन लोगों के लिए होआ वन गया था। दर्शन और पागलपन के 'सम्वन्ध' के विचारमात्र से लोग काम की वात में दर्शन का नाम लेना नहूसत समझते थे—और शिक्षा थी जीवनोन्नति की साधना। भला उपर्युक्त स्थिति में उसे दर्शन से सम्वन्धित या उस पर आधारित कैसे मान लिया जाता। दार्शनिक वेचारे दूर की कौड़ी लाते, जन सावारण की समझ से वाहर की वात हो जाती और अपनी अक़ल को वड़ा कहने वाला मनु-पुत्र उनका मनन करने की अपेक्षा, उन्हें 'पागल' की उपाधि से विभूषित करता। आज की जनता धीरे-धीरे जानने लगी है कि दर्शन किसी के मस्तिष्क की खरावी की उपज नहीं, वल्कि उसके पराकाष्ठा तक विकास की उपज

है। अब उन्हें पता चला कि दर्शन-शास्त्र पागलों की बातें नहीं, अनुभव का क्षेत्र है, और फिर कौन सा ऐसा विषय है जो अनुभव के क्षेत्र से बाहर रहकर पनप सके ! अतः शिक्षा भी, जो अनुभव की वस्तु है, दर्शन से सम्बल प्राप्त करती है, इसके मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

—इतना कुछ कह चुकने के पश्चात् उपसंहार स्पष्ट है। प्रथम तो भारत के साधारण अध्यापक को शिक्षा और दर्शन के अनिवार्य सम्बन्ध की आवश्यकता ही कभी न पड़ी थी। दूसरे जब पड़ी तो उसे समझने के लिए साहित्य उपलब्ध न हुआ। जो मिला, वह अभारतीय भाषा में। बेचारा सिर खपाकर रह गया और अपने परम्परागत विचार-तन्तुओं को उधेड़ता-बुनता रहा। उसकी समझ में यह फिर भी न आया कि शिक्षा का निजी दर्शन उसके उत्थान-मग में क्या स्थान रखता है। भिन्न विचारधाराएँ 'शिक्षा' को क्या-क्या प्रदान कर चुकी हैं और विश्व के महान शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा को क्योंकर प्रभावित किया है ? ऐसी समस्याओं का हल जानने के लिये भारतीय-अध्यापक का अधीर होना हिन्दी जैसी समृद्ध भाषा में शिक्षा के प्रस्तुत महत्तम अवयवों पर किसी प्रकार का साहित्य न के बराबर मिलना, और शिक्षा के उद्देश्यों-आदर्शों के सार्वलौकिक स्वरूप पर प्रकाश डालना आदि बातें मेरे सम्मुख प्रश्न-चिह्न बनकर जगती-उठती रहीं, अतः यह पुस्तक।

—देश के भावी-अध्यापकों को उपरिवर्णित परिस्थिति से बचाने और राष्ट्र को उन्नतमना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालक का अध्ययन करने योग्य शिक्षक प्रदान करने के लिए आज भारतवर्ष के अनेक विश्वविद्यालय विद्यार्थी-अध्यापकों (Pupil-teachers) की शिक्षा का प्रबन्ध कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक के विषय को लगभग सभी विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक पाठ्य-क्रम में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। पुस्तक को लिखते समय उन पाठ्य-क्रमों का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है, ताकि किसी भी प्रान्त के शिक्षा के छात्र इससे लाभ उठा सकें। सच पूछें तो उनकी सुविधा के लिए इस गूढ़ विषय को आसान और सुलझी हुई भाषा में प्रस्तुत कर, मैं अपने साथी विद्यार्थियों की सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर रहा हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि पुस्तक की सामग्री छात्रोपयोगी होने के साथ-साथ परिमार्जित होने का गौरव भी रखती है, जो कि परीक्षा में विद्यार्थी की एक मात्र सहायक कही जा सकती है। मेरा विश्वास है कि शिक्षा-क्षेत्र की कोई भी परीक्षा, जिसके पाठ्य-क्रम में 'शिक्षा-दर्शन' का कुछ भी अंश है, छोटी हो या बड़ी, साधारण हो या विशेष, इस रचना के सहारे परीक्षार्थी की सी हो सकती है। मैंने शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता, लक्ष्य और क्षेत्र, शिक्षा और

दर्शन का सम्बन्ध, शिक्षा के उद्देश्य आदि सामान्य विषयों पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त विश्व की शिक्षा-सम्बन्धी कुछ 'महान् विचारधाराओं का परिचय भी नींव से शिखर तक इसमें प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं, छात्रों की सुगमता के लिए पुस्तक के अन्त में हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषाओं के पारिभाषिक शब्दों की सूचियाँ भी दे दी गई है, ताकि पुस्तक में प्रयुक्त किसी भी शब्द को समझने में उन्हें कोई कठिनाई न हो। यह सब कुछ पाकर यदि मेरे विद्यार्थी सन्तोष का एक श्वास भी ले पाए, तो मेरी प्रसन्नता की सीमा न होगी। उन विश्व-विख्यात, 'विचारधाराओं का भारतीय-शिक्षा पर प्रभाव' इस पुस्तक का विशेष स्तम्भ है। इससे अधिक पुस्तक के सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ कहने की अपेक्षा इसे विद्यार्थी के हाथ में सौंपता हूँ, उसे ही फैसला करने दो कि इसमें क्या है, कैसा है और है कितना लाभप्रद!

आभार-प्रदर्शन—

—प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री विश्व के महान् विचारकों के चिन्तन और मनन पर आश्रित है। वास्तव में मेरा कहने को इसमें कुछ नहीं, मैंने तो केवल उन महानुभावों के विचारों को अपनी भाषा का वेष दिया है, या छात्रोपयोग का ध्यान रखते हुए चिन्तन-तन्तुओं का क्रम बाँधने का सद्प्रयास किया है। उनकी महानता के प्रति मैं नतमस्तक हूँ और कृतज्ञ हूँ उनकी रचनाओं का जिनसे मुझे हिन्दी में ऐसी पुस्तक रचने की प्रेरणा मिली। दर्शन और शिक्षा के क्षेत्र में अपने ज्ञानदाता प्रा० एस० पी० कनल, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, पंजाब युनिवर्सिटी कॉलेज, नई देहली तथा डा० प्रेमनाथ, अध्यक्ष, शिक्षा-दर्शन, पंजाब गवर्नमेंट ट्रेनिंग कॉलेज फ़ार टीचर्ज़, जालन्धर का तो मैं आजीवन ही ऋणी हूँ। उनके सामयिक सुझाव, अनमोल व्याख्याएँ और अनुभूतिपूर्ण संशोधन मुझे समय-समय पर मार्ग दिखाते रहे हैं। वास्तव में यह कृति उन्हीं दोनों महानुभावों के सुप्रताप का फल है, अतः उन्हीं के चरणों में इसे समर्पित करता हूँ। पुस्तकालय से सहायक पुस्तकों की ढूँढ-खोज और प्राप्ति के लिए मैं अपने साथियों श्री तख्तसिंह परमार, सुदर्शनसिंह मजीठिया तथा जयेन्द्र त्रिवेदी का आभारी हूँ। प्रा० बी० बी० प्रभु, अध्यक्ष, दर्शन-विभाग, सामलदास कॉलिज, भावनगर ने कई बार अपना अमूल्य समय गंवा मुझे विचार-विनिमय के सुअवसर दिए। उनका यह सहयोग निस्सन्देह अविस्मरणीय है। देहली पुस्तक सदन, नई देहली के प्रबन्धकों को धन्यवाद दिये बिना मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत ही कहा जाऊँगा, क्योंकि रचना को विद्यार्थी के हाथों तक पहुँचाने का श्रेय एकमात्र उनके प्रकाशनालय को ही है। अन्त में मैं अपने भाई श्री जसवन्तराय सहगल तथा भाभी श्रीमती कृष्णा सहगल के महत् सहयोग का आभार स्वीकार करता हूँ, जिन्होंने मेरे अत्यन्त व्यस्त रहते भी प्रूफ़ का

काम सम्भाल प्रस्तुत रचना को शीघ्रातिशीघ्र छात्रों तक पहुँचा दिया। अपनी जीवन-संगिनी सुधा को धन्यवाद कैसे दूं, उसने सहायता ही नहीं, सर्वस्व दे दिया है!

हिन्दी में अपने ढंग की सम्भवतः यह पहली पुस्तक है, अतः यदि कुछ अभाव भी दिखे तो क्षम्य ही कहा जाएगा। हां, उसे दूर करना मेरा कर्त्तव्य है। यदि कोई सज्जन रचना के सम्बन्ध में कुछ सुझाव-संशोधन प्रस्तुत करें, तो मुझे वे प्रसन्नतापूर्वक ग्राह्य होंगे और मैं उनका आभार मानूंगा।

मई, १९५८

—मनमोहन सहगल
बी० एम० शाह कॉलेज (सरकारी),
भावनगर

विषय सूची

अध्याय — पृष्ठ

१ शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता — १-७

२ शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र तथा लक्ष्य — ८-२१

शिक्षा का लक्ष्य : दर्शन का क्षेत्र १२; शिक्षा के सिद्धान्त : दर्शन का क्षेत्र १४; शिक्षा की विधियां—पद्धतियां : शिक्षा दर्शन का क्षेत्र १६; शिक्षा का गुण-दोष विश्लेषण : शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र १७; शिक्षा-दर्शन का लक्ष्य २० ।

३ दर्शन और शिक्षा : उनका परस्पर सम्बन्ध — २२-३१

दर्शन २२; शिक्षा २५; शिक्षा : द्विध्रुवी प्रवृति २६; शिक्षा के भिन्न लक्ष्य २७; परस्पर सम्बन्ध २८ ।

४ शिक्षा के उद्देश्य — ३२-५०

बौद्धिक विकास ३७; मानसिक-वृत्तियों की शिक्षा ३९; धार्मिक-चेतना ४१; नैतिक-उत्थान ४२; आध्यात्मिक-चेतना ४४; सौन्दर्य की परख ४५; नागरिक के कर्त्तव्य ४६; दैनिक व्यवहार ४७ ।

५ शिक्षा-दर्शन की समस्या — ५१-५७

६ शिक्षा में प्रकृतिवाद — ५८-८८

प्रकृतिवाद का स्वरूप ५८; प्रकृतिवादी-शिक्षा ६१; शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा ६५; शिक्ष्य विषय ७३; प्रकृतिवादी शिक्षण-विधियां ७५; शिक्षा और समाज ७८; शिक्षा और जीवनोद्देश्य ८२; भारतीय शिक्षा और प्रकृतिवाद ८५; प्रकृतिवादी शिक्षा के दोष ८७ ।

७ शिक्षा में आदर्शवाद — ८९-१२०

शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा ९५; पाठ्य-क्रम ९९; अध्यापन विधियां १०६; शिक्षा और समाज १०९; शिक्षा और जीवन के उद्देश्य ११३; भारतीय विचारधारा ११७ ।

८ शिक्षा में व्यवहारवाद — १२१-१४१

व्यवहारवादी दर्शन और उसका स्वरूप १२२; व्यवहारवाद और शिक्षा १२६; शिक्षार्थी और शिक्षा १२७; पाठ्य-क्रम १२९; शिक्षण-विधियां १३२; शिक्षा और समाज १३६; व्यवहारवादी-शिक्षा और जीवनोद्देश्य १३७; भारतीय शिक्षा-पद्धति पर व्यवहारवाद का प्रभाव १३९ ।

९ परिशिष्ट—आदर्शवाद, प्रकृतिवाद; तथा व्यवहारवाद का तुलनात्मक सार। १४२-४३

१० शिक्षा में गांधीवाद (बुनियादी तालीम) १४४-१६६

गांधीजी का शिक्षा-दर्शन १४६; गांधीवादी शिक्षा (गांधीजी के शिक्षा-सम्बन्धी विचार) १४९; बुनियादी तालीम की वर्धा-योजना १५२; गांधीवादी शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा १५५; पाठ्य-क्रम १५७; शिक्षण-विधियां १५९; वेसिक शिक्षा और समाज १६०, वेसिक शिक्षा और जीवनोद्देश्य १६१; गांधीवादी शिक्षा के विरुद्ध कुछ आपत्तियां १६३।

११ उपसंहार : गांधीवादी शिक्षा एक सम्मिश्रण १६७-६८

Glossary—English-Hindi १६९-७४

पारिभाषिक शब्दावली १७५-१८१

Books suggested for further study १८३-८४

समर्पण

गुरुजनों के चरणारविन्द में,

जिनसे मैंने विश्व की दार्शनिक-विचारधारा का
ज्ञान प्राप्त किया ।

शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता

जॉन ड्यूई अपनी पुस्तक 'मानव की समस्याएँ' में शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता पर जोर देते हुए स्पष्ट कहते हैं कि कुछ दार्शनिकों द्वारा ऐसा माना जाने पर भी, कि शिक्षा-दर्शन सामान्य-दार्शनिकता का साधारण उपांग नहीं कहा जा सकता। दर्शन-शास्त्र में उसकी सार्थकता स्वप्रकट है, क्योंकि, शिक्षा के माध्यम से ही तो ज्ञान (दर्शन) प्राप्त किया जाता है।[1] स्पष्ट है, जैसे दीप से दीप जलता है, ज्योति से ज्योति प्रकट होती है, वैसे ही सत्यता से सत्यता का अनावरण होता है। जहाँ विचार का अस्तित्व ही नहीं, वहाँ ज्ञान का जन्म कैसा? जहाँ सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि ही नहीं, वहाँ क्रियात्मक-रचना कैसी? जहाँ वस्तुस्थिति का 'क्या' नहीं, वहाँ उसके 'कैसे' की उपस्थिति क्यों? शिक्षा रचनात्मक-क्रिया है, जिसके प्रभाव में मनुष्य की पाशविक-प्रवृत्तियों पर सभ्यता और शिष्टता का रंग चढ़ता है और वह सही अर्थों में मानव कहलाने योग्य बन पाता है। इसका यह अभिप्राय कभी नहीं कि पशु पर भी उस रचनात्मक-क्रिया का प्रभाव पड़ने से वह मानव बन जाता होगा। मनुष्य एक ऐसा जीव है, जिसमें पशुता और मानवता का संगम उपलब्ध है। उसमें मानवी और दानवी दोनों प्रकार की चेतनाएं कार्यान्वित रहती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक समय में केवल एक ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ जागृत होती हैं। अतः प्रायः बुरी संगति या दुष्प्रभाव के कारण मानव-मन पर यदि पाशविक-प्रवृत्तियों का दबाव अधिक रहे और वह उसकी सुचेतनाओं को शिथिल बनाए रखे, तो शिक्षा उसकी सुषुप्त या क्षीण सद्चेतनाओं को उद्भूत करती है। मनुष्य के अन्तर के मानव को जागृति और शक्ति प्रदान कर उसमें दानवता या पशुता के प्रति विद्रोह-भाव भर देती है। परन्तु शिक्षा स्वयं इतना सामर्थ्य प्राप्त कहाँ से करती है? यह एक गम्भीर प्रश्न है। संसार का प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है। इसके केवल दो ही मार्ग हैं :—

---

१. The Philosophy of Education is not a poor relation of general Philosophy, though it is so treated even by Philosophers. It is ultimately the most significant phase of philosophy, for, it is through the process of Education that knowledge is obtained.— 'Problems of man', p.p. 165.

१. स्वानुसंन्धान से (Self Education) और २. आप्त कथनों से (Education by another)। स्वानुसन्धान में मनुष्य प्रायः निजी अनुभवों, जीवन की ठोकरों तथा अपने असफल प्रयासों से बहुत कुछ सीखता है। वही उसका संचित-ज्ञान कहलाता है। काल-क्रमानुसार इन्हीं अनुभूतियों या ज्ञान कोष में से वह अपनी अनुभव-हीन सन्तानों को कुछ सद्चेतनाएं देता है, उन्हें सन्मार्ग पर लगाता है, उन्हे निजी-अनुभवों की कटुता का ज्ञान करवाता है, तो उसकी ये सब चेष्टाएं आप्त-कथन बन जाती हैं। उसकी सन्तानें उसके अनुभवों से लाभ उठाती हैं, संसृति की कटुता से बचने का साधन जुटाती हैं, और अपने जीवन-सुरक्षा के भवन में एक-एक पत्थर जोड़ने में सफल होती हैं। वे भी (सन्तानें) आप्त-कथन की सीमा से बाहर कुछ स्वानुभव, अनुसन्धान या गवेषणा करती हैं, और उनका ज्ञान-कोष द्विगुणित हो जाता है। अतः प्रकट है कि ज्ञान-प्राप्ति इन दोनों रीतियों से अनिवार्यतः सम्बद्ध है। ज्ञान-प्राप्ति की इन दोनों स्थितियों में किसी न किसी 'उत्तेजक (Stimulus) का होना अपेक्षित है। पहली स्थिति में उत्तेजक का कार्य यदि क्रमबद्ध-कलात्मक हो तो ज्ञान का आधार गवेषणा कहलाएगा, और अकस्मात् सत्यानुभव प्राकृतिक-खोज। परन्तु दूसरी स्थिति में तो उत्तेजक एक निश्चित विचारधारा पर अवलम्बित होता है। ऍडलर ने शिक्षा दर्शन के पक्ष में स्पष्ट कहा है, "दूसरे के द्वारा दी गई शिक्षा (अर्थात् उपदेश या उत्तेजक द्वारा शिक्षा) कलात्मक आयोजन तथा स्वेच्छित-सम्पादन पर आश्रित रहती है।[१] प्रथम स्थिति की शिक्षा से मनुष्य 'सम्मति' (Opinion) का निर्माण करता है। दूसरी प्रकार की शिक्षा में उसे 'ज्ञान' (Knowledge) की प्राप्ति होती है। वास्तव में ज्ञान की प्राप्ति और सम्मति-निर्माण, दोनों एक ही वस्तुस्थितिके दो भिन्न पहलू हैं। दोनों का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य की निश्चित रीति (Style) का अर्जन करना है। 'रीति ही व्यक्ति है'[२] के कथन को चरितार्थ करने हेतु स्वयमेव ही उस मनुष्य के अन्तर्गत विचारों का सम्बद्ध तारतम्य बनने लगता है। दूसरों को अपने कटु-अनुभवों का ज्ञान देते समय, उपदेश या सम्मति प्रकट करते समय, या मनुष्य की सिखलाई के लिए उसे उत्तेजित करते समय वह उन विचारों का सुसम्पादन

---

१. "Education-by-another (i. e. under instruction or stimulation) must always be a process artistically planned and intentionally executed by that other."—Adler, 'In Defence of the Philosophy of Education' in Forty-first year-book of the National Society for the study of Education.

२. 'Style is the man.'

और कलात्मक-आयोजन प्रस्तुत करता है । इस आयोजन और सम्पादन में वह दूसरों के स्तर और रुचि का भी ध्यान रखता है । प्रस्तुत साधना उसे शिक्षक की कोटि तक पहुँचा देती है और उसके सम्पादन, आयोजन और विचारधारा को उसकी शिक्षण-कला के आधार गिनती है । यही आधार दर्शन या शिक्षा-दर्शन कहलाते हैं । प्रकट है कि जिस प्रकार बाती होते हुए भी तेल के बिना दीप नहीं जलता, वैसे शिक्षा-दर्शन या उस पर आधारित शिक्षण- कला की अनुपस्थिति में अनुभव या अनुसन्धान शिक्षा की पूर्ति नहीं कर सकते ।

पुनः, यदि संसार के कार्य-क्षेत्र की समस्याओं को देखा जाए, तो वे भी सैद्धान्तिक (Theoretical) और व्यावहारिक, (Practical) दो भागों में बाँटी जा सकेंगी । सैद्धान्तिक-समस्या प्राकृतिक या अप्राकृतिक वस्तुओं के स्वरूप या गुण-धर्म का विश्लेषण करने तक ही सीमित है, परन्तु व्यावहारिक प्रश्न इससे एक कदम आगे बढ़ कर लक्ष्य-विशेष की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले सद्प्रयासों तथा क्रिया या उत्पादन के क्षेत्र में किये जाने वाले संघर्षों पर अवलम्बित होगा । दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि हमारे वर्तमान प्रश्न 'तथ्य' (Facts) तथा 'महत्त्व' (Values) पर आश्रित रहते हैं । या निर्देशात्मक (Descriptive) तथा आदर्शात्मक (Normative) प्रश्नों का द्वन्द्व खड़ा किया जाता है । सैद्धान्तिक प्रश्नों का उत्तर तथ्यों की व्याख्या होती है, परन्तु व्यावहारिक प्रश्नों का उत्तर प्रायः आदर्श-स्थापन तो करता ही है, साथ ही विकल्प के क्षेत्र में उसके 'क्या' और 'कैसे' की समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है । प्रकट में क्योंकि शिक्षा का लक्ष्य भी अपने को या दूसरे को शिक्षित करना है, अतः उसकी समस्या भी 'मनुष्य को शिक्षा देने के लिए क्या करना चाहिए ?' सोलहों आने व्यावहारिक बन जाती हैं । एडलर के मतानुसार "इसका यह अभिप्राय कभी न लेना चाहिए कि शिक्षा क्षेत्र में पूर्णतः सैद्धान्तिक-प्रश्न पूछे ही नहीं जा सकते । उदाहरणतः शिक्षा का इतिहास मतनः सैद्धान्तिक ज्ञान है, क्योंकि उस में शिक्षा की व्यावहारिक-समस्या को सुलझाने के लिये मानव-द्वारा किये गए प्रयासों का क्रम-बद्ध उत्तर संकलित रहता है ।"[1]

"इसी प्रकार शिक्षा-दर्शन का इतिहास सैद्धान्तिक है, क्योंकि शैक्षणिक-संस्थाओं तथा पाठ्यक्रम का संचलन करने के लिए मनुष्य द्वारा अपनाई गई नीतियों (Policies) का उत्तर इसी से उपलब्ध है । परन्तु ये नीतियां स्वयं, क्योंकि ये नीतियां ही हैं, सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक है । जिन सामान्य-नियमों पर नीति आधारित रहती है, ये शैक्षणिक-प्रयोगों के प्रश्नात्मक-स्वरूप में शिक्षा के दर्शन का

१. Year Book 41–Adler, p.p. 206.

निर्माण करते हैं" ।[१] व्यावहारिक शिक्षा सामान्य नीति द्वारा निर्दिष्ट होती है । ये ही नीतियाँ कालानुसार आधारभूत व्यावहारिक नियमों में बदल जाती हैं। वैज्ञानिक-ज्ञान, शिक्षा-विज्ञान हो, या कोई सामाजिक अथवा प्राकृतिक-विज्ञान, स्वयं सैद्धान्तिक होने के कारण शिक्षा की नीतियों की एक-सूत्रता या उसकी व्यावहारिकता का शकट खींचने में असमर्थ रहता है। वह निर्देशात्मक है, आदर्शात्मक नहीं; यही कारण है कि वह महत्त्व या आदर्श की ओर संकेतित किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता । केवल सैद्धान्तिक-ज्ञान को ही व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु यह प्रस्तुतीकरण किसी प्रकार की वैज्ञानिक-खोजों से पूर्ण होने का नहीं। "अतः हम देखते हैं कि शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न, जो विज्ञान के द्वारा सुलझ नहीं सकते, वे शिक्षा-दर्शन के निश्चित क्षेत्र में स्पष्ट हो जाते हैं । शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता भी प्रकट होती है, क्योंकि इसके बिना प्रतिदिन के शैक्षणिक-अभ्यासों की नीतियों के अवलम्ब बुनियादी-व्यावहारिक-नियमों का कोई निश्चित निर्णय नहीं हो सकता ।"[२]

स्पेंसर ने स्वीकार किया है कि एक सच्चा दार्शनिक ही सच्ची शिक्षा को व्यावहारिकता प्रदान कर सकता है ।[3] ऐसा क्यों ? उत्तर स्पष्ट है; शिक्षा का लक्ष्य मानव-जीवन का उत्थान है, और इन उत्थानों के सांकेतिक आदर्शों का निर्माण किया जाता है, दार्शनिकता की सहायता से । दर्शन शब्द ही 'देखने' के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु किसे ? सच्चाई को । जीवनादर्श ही मानव की मात्र सच्चाई होगी और उसी को देखना दर्शन की नींव बनेगी । वे ही भाव जब व्यावहारिकता के क्षेत्र में जीवनोत्थान का मार्ग ढूंढेंगे, दूसरे के विचारों पर अपना अंकन लगाएंगे और दूसरों में वे परिवर्तन लाने में उत्तरदायी होंगे, जो सम्भवतः उनकी अनुपस्थिति में न आ पाते, तो शिक्षा का उदय होगा। बीज अच्छा होगा तो फ़सल भी अच्छी होगी—

---

१. Adler, Year Book 41, P. 207

२. "Thus we begin to see, not only the distinct sphere of the Philosophy of Education, as answering questions, unanswerable by Science, but also the need for a Philosophy of Education–for without it there could be no certain determination of the basic practical principles underlying the policies which direct actual day-today educational practices.—Adler, 'In Defence of the Philosophy of Education'.

३. 'True education is practicable only to a true Philosopher.'–Spencer.

ठीक इसी प्रकार जितने ऊँचे वे सत्यदर्शी-भाव होंगे, उतनी ही ऊँची शिक्षा का जन्म होगा। अतः स्पेंसर की उपर्युक्त उक्ति पूर्णतः सम्यक् ठहरती है। चेस्टरटन के शब्दों में जिस प्रकार मालिक-मकान किसी किरायेदार को बसाते समय, केवल उसकी आय और साधन ही नहीं देखता, बल्कि उसका जीवन-दर्शन भी उसके जाँचने का विषय बनता है। यदि यह स्वीकार्य है, तो प्रस्तुत विषय पर साधारण सी भी पैनी दृष्टि शिक्षा का मूल दर्शन ही को ठहराएगी। प्रकट है, मूल के अभाव में शाखा, पत्र और फूल की कल्पना नहीं की जा सकती, तो दर्शन के बिना शिक्षा का कल्पना कैसी ? सिद्धान्त के बिना व्यवहार की कल्पना कैसी ? और व्यवहार भी ऐसा, जो सदैव क्रमबद्ध और पूर्वयोजित रहता है।

ड्यूई ने भी लिखा है कि दर्शन शिक्षा के लक्ष्यों का निर्णय करता है, और शिक्षा-विज्ञान उन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों का संकेत देता है।[१] बिना लक्ष्य का निर्णय किये अन्धेरे कुएं में पत्थर नहीं फेंके जाते। प्रत्येक क्रिया किसी न किसी ध्येय की पूर्ति के लिये होती है। शिक्षा भी एक ऐसी ही क्रिया है, जिसको व्यावहारिक रूप देने से पहले उसके लक्ष्यों या आदर्शों का निर्णय करना पड़ता है। यह निर्णय सम्पूर्णतः दर्शन के आधीन है। प्रश्न उठता है, क्या दर्शन के अभाव में शिक्षा स्वयं अपने लक्ष्यों का चुनाव नहीं कर सकती ? नहीं, शिक्षा ज्ञान-प्राप्ति का साधन है, स्वयं साध्य नहीं। साधन रूप में उसे साध्य तक पहुँचने के लिए संघर्ष करना पड़ता है और अन्ततः ज्ञान की प्राप्ति होती है। हम ऊपर पहली पंक्तियों में ही लिख आए हैं कि यही ज्ञान दार्शनिकता का स्रोत बनता है, और नये नये लक्ष्यों की कल्पना तथा विचारों को जन्म देता हुआ पुनः शिक्षा को साधन बना लेता है। अतः शिक्षा तथ्य और ज्ञान आदर्श है। आदर्श सदैव तथ्य से ऊपर रहने की वस्तु है। उसका अस्तित्व तथ्य की अनुपस्थिति में भी वैसा ही बना रहता है, जबकि आदर्श के न होने पर तथ्य का लगभग अन्त ही हो जाता है। यही कारण है कि रस्क के मतानुसार शिक्षा-क्षेत्र में कर्मशील अध्यापक, जिनके विचार में शिक्षा के व्यावहारिक-क्षेत्र से पूर्व दर्शन का कोई महत्व ही नहीं, प्रायः अपनी इस उपेक्षा का दण्ड भुगतते हैं।"[२]

---

१. Philosophy is concerned with determinig the ends of education, while the Science of Education determines the means to be used.—"Sources of Science of Education."

२. "Teachers, who assume that they can afford to ignore Philosophy, pay the penalty of their neglect, for their efforts, lacking a coordinating principle, are thereby rendered ineffective."—R. R. Rusk, 'Philosophical Bases of Education' P. 9.

आइए, हम अपने विषय के समर्थन में इतिहास से कुछ सहायता ले देखें। आज तक संसार में अनेक शिक्षा-विचारक या शिक्षा शास्त्री हुए हैं। उन्होंने अपने अपने मतानुसार शिक्षा के क्षेत्र में अनेक सुधार प्रस्तुत किये हैं और नूतन धाराएं भी चलाई है। इतिहास साक्षी है कि सुकरात (Socrates) से लेकर अर्वाचीन युग के फ्रॉबेल और माण्टेसोरी सरीखे पश्चिमी तथा गान्धी और टैगोर से पूर्वी शिक्षा-विचारक, सबके सब अपने अपने नियमित विचार-सूत्र में बँधे शिक्षा तथा उसकी प्राप्ति में नवीनता का दम भर रहे हैं। सब ने लक्ष्य एक रखते हुए भी साधनों में अन्तर की मांग की है। जिससे स्पष्ट है कि वे सब केवल शिक्षा-शास्त्री ही न थे, उससे भी पहले वे दार्शनिक थे। उन्होंने अपने जीवन के अनुभवों और ठोकरों को ज्ञान के सूत्र में पिरो कर कुछ ठोस परिणाम निकाले थे। इन परिणामों को बार-बार विश्लेषण की कुठाली में तपा स्वर्ण कुन्दन बनाया था। अतः काल-क्रमानुसार वे विचारने लगे थे कि उनका विचार सूत्र या जीवन-दर्शन दूसरों के मार्ग-प्रदर्शन का सफल माध्यम बन सकता है। सम्भवतः यही कारण था कि वे अपने उन सिद्धान्तों को व्यावहारिकता के क्षेत्र में ढालने लगे और धीरे-धीरे दार्शनिक के साथ-साथ शिक्षा-शास्त्री भी बन बैठे।

इस प्रश्न को अधिक सुलझाने के लिए 'दार्शनिक' और 'शिक्षा-शास्त्री' की व्याख्या भी यहां अनावश्यक न होगी। दार्शनिक की परिभाषा देते हुए अफ़लातून (प्लॉटो) ने रिपब्लिक में लिखा है कि वह व्यक्ति जो हर प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, सदैव कुछ सीखने को उत्सुक रहता है, और कभी ज्ञान-संचय से संतुष्ट नहीं होता, वास्तव में दार्शनिक कहला सकता है।[१] दूसरी ओर शिक्षा-शास्त्री का कार्य अधिक संयत और वैज्ञानिक होता है। वह उपरोक्त संचित-ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के लिए सुगम, सहज और सुव्यवस्थित साधन की खोज करता है। साधन प्रायः साध्य के अनुसार अलग-अलग होते हैं। यही कारण है सभी शिक्षा-शास्त्रियों की पद्धतियां जुदा-जुदा हैं। दोनों परिभाषाओं की तुलना करने से प्रत्यक्ष होगा कि दार्शनिक और शिक्षा-शास्त्री दोनों एक ही व्यक्तित्व में समाए रहते हैं। सिद्धान्त-निर्माण करते समय जो व्यक्ति दार्शनिक होता है, वही अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देते समय शिक्षा-शास्त्री कहलाने लगता है। इसका एक मात्र कारण है, दूसरों को अपने विचारों से सहमत बनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति। जहाँ विचारों की सहमति का प्रश्न नहीं उठता, वहाँ शिक्षा का आधार डगमगाता-सा रहता है। साराँश यह

---

१. "He, who has a taste for every sort of knowledge and who is curious to learn and is never satisfied, may be justly termed as Philosopher;—Plato's Republic Book V.

कि ज्ञान का पिपासु शिक्षा के साधन से तृप्ति-लाभ का प्रयत्न करता है और वही प्रयास उसे दार्शनिक बनाने में सहयोग देता है। दार्शनिक ही आगे चलकर जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है, जिसकी प्राप्ति का साधन उसका दूसरा रूप 'शिक्षा-शास्त्री' जुटाता है। स्पष्ट है, यदि पहली स्थिति 'लक्ष्य-निर्धारण' का ही अभाव रहे, तो दूसरी स्थिति 'शिक्षा-रूपी-माध्यम-जुटाना' कल्पना-लोक की ही वस्तु रह जाए। चित्र की दूसरी ओर शिक्षा की अनुपस्थिति में ज्ञान-प्राप्ति असम्भव हो सकती है और उसके बिना 'लक्ष्य-निर्धारण' का प्रश्न ही खटाई में पड़ जाता है। अतः कहा जा सकता है कि शिक्षा और दर्शन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे शिक्षा के अभाव में ज्ञान (दर्शन) की नींव नहीं रखी जा सकती, वैसे ही ज्ञान की अनुपस्थिति में लक्ष्य-विहीन साधना व्यर्थ का परिश्रम होगी। जे० एस० रॉस के शब्दों में स्पष्ट है कि दर्शन और शिक्षा मुद्रा की दोनों ओरों की भान्ति एक ही वस्तु के भिन्न स्वरूप प्रस्तुत करते हैं; और एक दूसरे के सूचक भी हैं।[1]

ऊपर एक स्थान पर हम संकेत कर आए हैं कि वस्तुस्थिति के 'क्या' की अनुपस्थिति में 'कैसे' का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भी बड़ी विचित्र समस्या है। जब तक 'क्या करना है' का उत्तेजक हमारे सम्मुख रखा ही नहीं जाता, तब 'कैसे करना है' की समस्या क्योंकर उदित हो सकती है? हर कार्य की पहली स्थिति योजना रहती है और प्रत्येक योजना का कोई लक्ष्य होता है। योजना और उसके लक्ष्य की पूर्ति के लिये जो तरीके अपनाए जाते हैं, वे ही व्यावहारिक शिक्षा का आधार बनते हैं। अभिप्राय यह है कि शिक्षा की पहली स्थिति 'क्या' है और दूसरी 'कैसे'—'क्या' दर्शन की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है, तो 'कैसे' शिक्षा-पद्धति की समस्याओं का हल खोजता है। 'क्या' न होता तो 'कैसे' का प्रश्न न उठता, अर्थात् दर्शन न होता तो शिक्षा न होती, पद्धतियां न होतीं और ना होती शिक्षा-सम्बन्धी कोई रचनात्मक-क्रिया। अतः शिक्षा के लिये विशिष्ट दर्शन, जो जीवन के आदर्शों को शिक्षा का आदर्श बना सके, अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है।

---

१. The Ground work of Educational Theory—J. S. Ross.

शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र तथा लक्ष्य

शिक्षा-क्षेत्र में अपनाए जाने वाले सिद्धान्त, विधियाँ, पद्धतियाँ, विश्लेषण, संश्लेषण आदि, सब दर्शन के विषय हैं। पिछले अध्याय में हम प्रमाणित कर चुके हैं कि वास्तव में शिक्षा तथा उसके अंगोपांग सभी दर्शन रूपी मूल के शाखा, पत्र और फल-फूल हैं। मूल के अभाव में या रुग्ण होने की अवस्था में जैसे ऊपर के सभी अंग मुरझा जाते हैं, सूख कर झड़ जाते हैं; ठीक वैसे ही दर्शन के सशक्त अस्तित्व के अभाव में शिक्षा की नीवें काँप जाती हैं, विस्तार का महल ताश के पत्तों की नाईं धराशायी हो जाता है। अतः प्रकट है कि शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है; इतना विस्तृत कि संसार की सम्पूर्ण शिक्षा उसमें समा जाने के बाद भी उसमें सैद्धान्तिक-उत्थान के लिए स्थान रहता है। इस विषय पर सांगोपांग जोर देने से पूर्व हम यहाँ ऐंडलर द्वारा संकेतित शैक्षणिक-क्रमों का चित्रण करना अनुचित नहीं मानते।[1] ऐसा करने से हमें शिक्षा के मुख्य विभाजन के साथ-साथ, शिक्षा-दर्शन द्वारा उन्हें क्योंकर हस्तगत किया जाता है, का भी उत्तर मिलेगा।

श्री ऐंडलर ने चार मुख्य शैक्षणिक-क्रम स्वीकार किए हैं :—

१. स्वानुभव द्वारा शिक्षा तथा निर्देशन द्वारा शिक्षा (अन्याश्रित)।
२. शिक्षा द्वारा निर्मित स्वभाव के भिन्न प्रकार।
३. शिक्षा-सम्बन्धी व्यक्तिगत भेद।
४. संस्था-सम्बन्धी तथा संस्था-विहीन शिक्षा (Institutional and Non-Institutional).

स्वानुभव द्वारा प्राप्त की जाने वाली शिक्षा प्रायः मनुष्य के दैनिक जीवन में आने वाली घटनाओं तथा उसकी ओर उसकी संगति में आने वाले लोगों की क्रियाओं पर अवलम्बित रहती है। इसकी परिपक्वता अधिकतर मनुष्य-जीवन के कड़वे-मीठे घूंटों से मिलती है, और यह सूझ मानव के जीवन का अटूट अंग बनकर रह जाती है। अनुभव के क्षेत्र से ऊपर कभी खोज द्वारा भी स्वशिक्षा का विधान होता है। प्रस्तुत खोज, या तो विना किसी कला की सहायता के, प्राकृतिक-साधनों से सम्पन्न

---

१. Major Divisions of Education and the Scope of Educational Philosophy—41st year book p. 213-17.

होती है, और या फिर अनुसन्धानक अपनी सहायता के लिए कुछ कृत्रिम साधनों का प्रयोग करता है, ताकि उसके कार्य में सुविधा रहे। निर्देश द्वारा शिक्षा प्रायः मध्यम-पुरुष की संगति से प्राप्त होती है। मध्यम-पुरुष द्वारा उत्तम-पुरुष की सिखलाई सदा अव्यापन नहीं कही जा सकती। एँडलर के मतानुसार कहीं-कहीं 'उत्तेजक' प्रस्तुत करने में भी एक-दूसरे की सिखलाई का कारण बन सकता है। पुनः उत्तेजक तो स्वानुभव तथा निर्देशन दोनों प्रकार की शिक्षा में कर्मशील रहता है। एक में जीवन की कोई घटना उत्तेजना-प्रदाता बनती है, तो दूसरे में कोई द्वितीय या तृतीय-पुरुष। सच तो यह है कि जीवन में उत्तेजना-विहीन (अर्थात् महत्त्वाकांक्षा के बिना) प्राणी शिक्षा तो क्या, किसी अन्य क्षेत्र में भी उन्नति नहीं कर सकता। --और ये महत्त्वाकांक्षाएँ बनती हैं जीवनादर्शों की ओर उन्मुख होने में, जो कि शिक्षा का नहीं, दर्शन का विषय है।

दूसरा शैक्षणिक-क्रम शिक्षा द्वारा निर्मित स्वभाव की ओर संकेत करता है। मनुष्य के अन्तर्मन पर पड़ने वाला शिक्षा का प्रभाव उसे दो प्रकार की आदतों का प्रतिदान देता है-- १. बौद्धिक और २. नैतिक। ये आदतें एक ओर जानने और विचार करने की ओर लक्ष्य करती हैं, तो दूसरी तरफ सैद्धान्तिक इच्छा और उसकी पूर्ति के लिये क्रियाशील होने की प्रेरणा देती है। बौद्धिक स्वभाव पुनः दो भागों में बाँटा जा सकता है--ज्ञान को लक्ष्य बनाने वाली आदतें और कला को लक्ष्य बनाने वाली आदतें। यहाँ पर भी पहला रूप वस्तुस्थिति के 'क्या' और दूसरा रूप उसके 'कैसे' की ओर संकेत करता है। स्मरण रहे कि प्रत्येक कला क्योंकि बौद्धिक सद्गुण का ही दूसरा नाम है, अतः कलात्मक-शिक्षा भी बौद्धिक तो होती ही है। श्री एँडलर 'इन डिफेंस ऑफ़ दि फिलॉसफ़ी ऑफ एडुकेशन' में कलात्मक-शिक्षा को प्रधानतः तीन भागों में बाँटते हैं--१. शारीरिक-शिक्षा (Physical Education) २. औद्योगिक-शिक्षा (Vocational Education) ३. उदार-शिक्षा (Liberal Education) शारीरिक-शिक्षा उस आधारभूत कला का नमूना है, जो शरीर के स्वेच्छित प्रयोग का सुढंग प्रस्तुत करे। औद्योगिक-शिक्षा हर प्रकार की लौकिक-कलाओं की जन्म-दातृ है। लौकिक कलाएँ भी सामान्य तथा विशिष्ट दो प्रकार की हो सकती हैं। सामान्य कलाओं में सहकारी साधनों का प्रयोग नहीं होता। उदार-शिक्षा जीवन की उस महत्त्वपूर्ण कला को जन्म देती है, जो मनुष्य को जीना सिखाए, दैनिक-व्यवहार में सहायता दे और दूसरों की दृष्टि में उसे ऊँचा उठाए। यथा नम्रता को अपनाना, सम्यक् विचारधारा बनाना, भाषा का योग्य प्रयोग करना आदि।

तीसरा क्रम है, शिक्षा-सम्बन्धी व्यक्तिगत-भेद। शिक्षार्थी-जीव स्वभावतः ही व्यक्तिगत गुणों या विशेषताओं में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। जातिभेद, सामाजिक

और आर्थिक भिन्नता, धार्मिक-प्रतिबन्ध तथा रूढ़ विचारधाराएँ आदि मनुष्य की वैयक्तिक सीमाएँ हैं, जिनके कारण भेद उपजता है। ध्यान रहे, यहाँ हम शिक्षा की बात मनुष्य-मात्र के प्रसंग में लिए रहे हैं, पशु या अमानुषिक के लिये नहीं। पशु को शिक्षित नहीं किया जा सकता, केवल कुछ परिस्थितियों का अभ्यस्त बनाया जा सकता है। कारण स्पष्ट है कि वह विचारशील प्राणी नहीं। हाँ, तो उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त एक और अन्तर आयु का रहता है। शिक्षा की सीमाएँ शिक्षार्थी की आयु और बौद्धिक-विकास के अनुसार ही प्रसारण करती हैं। बालक को उसी के योग्य शिक्षा दी जा सकती है, जब कि वयस्क की शिक्षा का विषय पृथक् होगा ही। शिक्षा किसी एक विशिष्ट अवधि में बँधी अनुभूति तो है नहीं—वह तो जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त साधना की वस्तु है। प्रत्युत महात्मा गांधी तो एक कदम और आगे बढ़कर शिक्षा का आरम्भ गर्भ-धारण से स्वीकार करते हैं। अस्तु: वास्तविक शिक्षा, जो मनुष्य के जीवन लक्ष्यों की ओर संकेत करती और उसकी प्राप्ति के साधन जुटाती है, वह वयस्क के ही बाँटे आई है। कुमारावस्था की शिक्षा को यदि परिपक्वावस्था में शिक्षा-प्राप्ति के लिये क्षेत्र तैयार करने के रूप में देखा जाए, तो कोई अनीति न होगी। एँडलर की मान्यता है कि जो शिक्षा-दर्शन केवल कुमारावस्था या यौवनावस्था तक ही शिक्षा को सीमित रखता है, वह सशक्त नहीं हो सकता। बल्कि वह अपने ग्राहकों को खोटा प्रदर्शन देता रहेगा। कारण यह है कि शिक्षा के उद्देश्य-लक्ष्य परिपक्व मनुष्य के प्रसंग में ही परिभाषित किये जा सकते हैं। परिपक्वता प्राप्ति के पथ पर अभी आगे बढ़ने वाले बालक के प्रसंग में उनकी उचित परिभाषा ठहराना दुष्कर है।[1]

चौथा शैक्षणिक क्रम संस्था-सम्बन्धी तथा संस्था-विहीन शिक्षा है। इसमें प्रथम कोटि की शिक्षा तो प्रकट में ही हमारी स्कूली शिक्षा है। विद्यालयों में कठोरता और दण्ड खेल और प्यार या व्याख्यान और तर्क पर आधारित शिक्षा, संस्था-सम्बन्धी शिक्षा कहलाती है। विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त कुछ शिक्षा सामाजिक-संस्थाओं, यथा घर, परिवार, धर्म-स्थान, विशिष्ट-लक्षी क्लब आदि

---

१. No Philosophy of Education which restricts itself to the education of the young can be adequate; worse than that, it will be distorted and misleading because the ends of education can only be defined in terms of an educated man; they cannot be properly defined in terms of a child merely in the process of becoming man—Year Book 41. P. 216,

में भी प्राप्य होती है। ठीक है कि ये संस्थाएँ पाठ्य-क्रम पढ़ाने या परीक्षोपयोगी सामग्री प्रदान करने के लिये निर्मित नहीं, तथापि इन संस्थाओं में मनुष्य को जीवन की भिन्न गतियों का ज्ञान प्राप्त होता है—जो कि पाठ्य क्रम और परीक्षाओं से अधिक अपेक्षित है। संस्था-विहीन शिक्षा उन संस्थाओं से, जो मुख्यतः शिक्षा को लक्ष नहीं करतीं तथा उन व्यक्तित्वों से, जो अकस्मात् दूसरे को शैक्षणिक लाभ पहुँचाने में सहायक होते हैं, उपलब्ध है। सम्प्रदाय या वर्ग द्वारा प्रस्तुत सांस्कृत-प्रसाधन, रेडियो-कार्यक्रम, सामयिक-साहित्य, पुस्तकें तथा पुस्तकालय, सार्वजनिक व्याख्यान, औद्योगिक-ढंग, दैनिक-नियम, सरकारी विधान आदि वस्तुए 'संस्था-विहीन' शिक्षा का कारण बनती हैं।

उपरिवर्णित चारों शैक्षणिक-क्रमों के विश्लेषण से पर्याप्त सुविधापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र केवल निर्देशन तक ही सीमित नहीं, बल्कि उसका उत्तरदायित्व स्वानुभव द्वारा प्राप्त शिक्षा की ओर भी उतने ही परिमाण में सचेष्ट रहता है। पुनः कुछ महानुभावों का मत है कि निर्देशात्मक शिक्षा में शिक्षा-दर्शन को संस्था-सम्बन्धी अध्ययन-अध्यापन तक ही बद्ध रखना उचित होगा। परन्तु ऐसा कदापि मान्य नहीं। विशेषतया शिक्षा (सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक) प्रसारण के लिये ही बनाई गई संस्थाओं में प्रदान की जाने वाली योग्यता मात्र शिक्षा-दर्शन का विषय नहीं। दर्शन सागर की तरह गम्भीर और आकाश की तरह विस्तृत है। उसका क्षेत्र भी शिक्षा का कोई एक अंग नहीं, सम्पूर्ण शिक्षा है। ऊपर लिखा जा चुका है कि शिक्षा आजीवन आद्य-क्रिया है, अतः दर्शन का क्षेत्र भी जीवन-भर की शिक्षा ही होगा। अब देखिए कि संस्था-सम्बन्धी शिक्षा आजीवन तो चलती नहीं। ८० प्रतिशत व्यक्ति माध्यमिक-विद्यालयों में शिक्षा की इति-श्री प्राप्त करते हैं। १५ प्रतिशत मर-पीट कर महाविद्यालयों में ग्रेजुएट बनते हैं, और शेष पांच प्रतिशत महारथी विश्व-विद्यालय में उत्तर-ग्रेजुएट शिक्षा पाते हैं। ये सब स्थितियां अधिक से अधिक २०-२५ वर्ष की आयु तक चुक जाती हैं। व्यावहारिक जीवन तो अब आरम्भ होता है। जीवनोन्नति, उत्थान या प्रगति के स्वप्न तो अब देखे जाते है। स्वमूल्यांकन पर नई-नई महत्त्वाकांक्षाएँ जगने लगती हैं। मनुष्य के लक्ष्य असीम, जीवनोद्देश्य अनन्त और प्रगति मुखर हो उठती है। स्पष्ट है कि यदि शिक्षा-दर्शन, जो मनुष्य के जीवनादर्शों से भी उतना ही सम्बन्धित है, जितना कि शिक्षा से, केवल शैक्षणिक-संस्थाओं के पाठ्य-क्रमों तक ही अपने को सीमित कर ले, तो क्या मनुष्य का शेष जीवन निस्सार न हो जाएगा? क्या मानव अपने जीवन की अनुभूतियों को अनु-सन्धानों, सिद्धान्तों या नियमों के रूप में प्रस्तुत कर सकेगा? नहीं, नहीं, नहीं—सम्भवतः इन्हीं सब अनुभूतियों को यथाशक्ति संजोने तथा महान् चरण-चिह्नों पर

मन महान् बनने की अभिलाषाओं ने ही शिक्षा-दार्शनिकों को अपने विषय का क्षेत्र विस्तृत बनाने की प्रेरणा दी होगी। अधिकतम बच्चे ऐसे ही होते हैं जिनकी शिक्षा दूसरों के निर्देशन में होते हुए भी संस्था-विहीन होती है। परस्पर वार्तालापों, उपदेशों और व्याख्यानों में वे बहुत कुछ सीखते हैं। शिक्षा-दर्शन इस 'बहुत कुछ' की उपेक्षा नहीं कर सकता। यही कारण है कि आज शिक्षा-दर्शन स्कूलों और कालिजों की पुरी सीमाओं से बाहर शारीरिक, औद्योगिक तथा उदार-शिक्षा, बौद्धिक और नैतिक आधार, प्राप्ति और ग्रहण में व्यक्तिगत भेद, सभी शैक्षणिक-क्रमों को अपना चुका है।

जॉन ड्यूई के कथनानुसार दर्शन एक विचारशील, अभ्यास-प्रयुक्त शैक्षणिक-सिद्धान्त है।[1] इस परिभाषा में अभ्यास-क्षेत्र पर जोर दिया गया है। शिक्षा क्योंकि मुख्यतः अभ्यास की ही वस्तु है, अतः उसके लक्ष्य, सिद्धान्त, विधियाँ और पद्धतियाँ, सब शिक्षा-दर्शन का महत् क्षेत्र बनाती हैं। ध्यान रहे कि उपर्युक्त कथन के अनुसार शिक्षा के इन सब क्षेत्रों मे विचारशीलता का बड़ा महत्त्व है। इन सबकी व्याख्या हम क्रमपूर्वक करेंगे।

शिक्षा का लक्ष्य : दर्शन का क्षेत्र—

प्रत्येक क्रिया या अभ्यास किसी न किसी लक्ष्य की ओर सकेत करता है। शिक्षा भी क्रियात्मक अनुभूति है उसका लक्ष्य भी पूर्व-निर्दिष्ट होना ही चाहिए। लक्ष्य का पूर्व-निर्दिष्ट न होना शिक्षण-प्रगति में बाधा बन जाता है। परन्तु यहाँ पहला प्रश्न उठता है, लक्ष्य क्या है? लक्ष्य उस इच्छित परिणाम को कहा जाता है, जिसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य संघर्ष करता है, क्रिया के क्षेत्र में अवतरित होता है और क्रम-पूर्वक तथा विचारशील अभ्यास हेतु कमर कसता है। स्पष्ट है कि क्रिया या अभ्यास अपनाने से पूर्व ही परिणाम पर विचार किया जाना अनिवार्य होता है। ऐसा करने से लक्ष्य कल्पना या अनुमान (Hypothesis) का विषय बन जाता है और उसकी प्राप्ति ही अभ्यास-क्रम की सफलता कहलाती है। अनुमान या कल्पना पर आश्रित आदर्शों के अन्तर्गत मानवीय विचार-शक्ति कार्य-रत रहती है। वह शक्ति प्रत्येक आदर्श की महनीयता और सफल-प्राप्ति का उत्तरदायित्व लिये होती है। यही शक्ति वास्तव में दार्शनिक पृष्ठभूमि है, जो शैक्षणिक अभ्यास से पूर्व निर्दिष्ट परिणामों का अनुमान करती है। इस कल्पित-परिणाम (Hypothetical Result) को तथ्य बनाने के लिये व्यावहारिक-स्तर तक लाया जाता है और अन्ततः प्रयोग (Experiment)

---

१. Philosophy is the theory of education as a deliberately conducted practice-'Democracy and Education'. P. 387.

की कसौटी अर्थात् शिक्षा के क्रियात्मक बल पर उसकी सफलता या असफलता का निर्णय होता है। प्रकट है कि शिक्षा का लक्ष्य दर्शन का ही विषय है। दर्शन के अभाव में निर्दिष्ट लक्ष्य 'विचारशीलता' के विशेषण से वंचित रह जाता है और शिक्षा, जिसका एकमात्र क्षेत्र जीवनोन्नति है (क्योंकि मानव-जीवन की गुप्त विचार-निधियों को प्रदीप्त करना ही तो शिक्षा का कर्म है) बिना दर्शन के लंङ्गरे पक्षी की भाँति उड़कर शिखर तक पहुँचना तो चाहती है, परन्तु फड़फड़ा कर ही रह जाती है। सच तो यह है कि शिक्षा के लक्ष्य-निर्धारण में दर्शन प्रदीप्त-ज्योति है, जो मार्ग प्रदर्शन करने के साथ-साथ अपने ताप से मार्ग की शीतलता का हरण भी करती है। इस स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम अपने दैनिक जीवन से एक उदाहरण लेते हैं। दर्शन विचार करने की कला को कहा जा सकता है। अपने जीवन में प्रत्येक कार्य के करने से पूर्व हम उसकी लाभ-हानियों, कठिनाइयों और सुविधाओं आदि के सम्बन्ध में सोचते हैं। जब हमें निश्चय हो जाता है कि जिस कार्य में हम हाथ डालने लगे हैं, उससे हमें लाभ होगा, तब उसे क्रियात्मक रूप दिया जाता है। सम्भव हो सकता है कि वह कार्य और उसका परिणाम हमारे विचार के विपरीत हो जाए, लेकिन उसका उत्तेजक तो श्रेष्ठ ही रहेगा। असफलता का कारण लक्ष्य और विचार-सूत्र नहीं, अपितु ग़लत साधन होंगे। यहाँ विचार-सूत्र दर्शन का पर्याय बना, अनुमानित-परिणाम लक्ष्य की पूर्ति करने लगा, अभ्यास ही साधन हुए और उसकी सफलता या असफलता शिक्षा द्वारा प्राप्त एक सामान्य नियम हो गया। फ्रायडियन-मनोविज्ञान की परिभाषा में सन्तानोत्पत्ति के लक्ष्य की पूर्ति के लिये वीर्य का रज पर जो प्रभाव पड़ता है, ठीक वैसा ही प्रभाव जीवन के किसी महत् लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दर्शन का शिक्षा पर होता है, क्योंकि जीवन का लक्ष्य और शिक्षा का लक्ष्य दोनों साथ-साथ चलते हैं।

दूसरा प्रश्न है, लक्ष्य कैसा होना चाहिए? इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त अनुच्छेद में हम सिद्ध कर चुके हैं कि लक्ष्य साधारण पृष्ठभूमि से ऊँचे स्तर पर अनुमानित और काल्पनिक होते हैं। परन्तु ध्यान रहे, ये कल्पनाएं या अनुमान त्रिशंकु की तरह निरावलम्ब हवा में नहीं लटके रहते। इनका आधार तत्सम्बन्धी भौतिक परिस्थितियां होती हैं। व्यक्ति या प्रतिनिधि शिक्षा-विचारक उन्हीं परिस्थितियों की आड़ में अनुमान लगाते हैं और आशा के विकास में लक्ष्य निर्मित किये जाते हैं। वे ही लक्ष्य वास्तव में महत्त्वकारी होते हैं, क्योंकि इनकी पृष्ठभूमि यथार्थ रहती है। कोई साधन विहीन व्यक्ति, जिसमें साधन जुटाने की योग्यता भी न हो, यदि सम्राट बनना अपना जीवन-लक्ष्य बनाले, और सीधे जाकर सम्राट से इस बात की मांग करे कि वह उसे अपना उत्तराधिकार दे, तो निश्चय ही उसका स्थान संसार के विस्तृत आंगन में से होकर

पागल-खाने की संकीर्ण कोठरियों में होगा। अतः सिद्ध है कि लक्ष्य की महानता तो अपेक्षित है, परन्तु यथार्थ की भित्ति का त्याग पागलपन। दूसरे, शिक्षा का प्रत्येक लक्ष्य लचीला (Flexible) होना चाहिए। मानव-परिस्थितियां परिवर्तनशील हैं। समय की आड़ में मनुष्य के योग्य साधन भी घटते-बढ़ते रहते हैं। अतः विपरीत परिस्थितियों में लक्ष्य की संकुचितता हेतु कुछ क्षेत्र होना ही चाहिए। अन्यथा मनुष्य का जीवन दूभर हो जाएगा। यदि लक्ष्य स्थिर (Rigid) हो तो साधनाभाव में आदमी मैदान छोड़ कर भाग खड़ा होगा। यही कारण है कि हमारे मत में लक्ष्य के लचीले पन के आधार पर भिन्न अवस्थाएं होनी चाहिएं, जिन्हें प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा कहा जा सके। वास्तविक लक्ष्य तो उत्तमावस्था का ही होगा, परन्तु उत्तमा तक पहुँचने के लिये उससे पूर्व की अवस्थाएं भी तो अपनानी पड़ेंगी। छत तक पहुँचने के लिये प्रत्येक सीढ़ी पर क़दम तो रखना ही पड़ेगा। शिक्षा-क्षेत्र के सैद्धान्तिक-कोण में यदि किसी का लक्ष्य एम० ए० पास करना हो, तो स्वभावतः ही उसे पहले मैट्रिक, एफ० ए० और बी० ए० पास करना पड़ेगा। इसका बड़ा लाभ यह होता है कि कभी अचानक साधन-विहीन हो जाने के कारण व्यक्ति यदि उत्तमावस्था तक न पहुँच सके, तो उसके रुकने के लिए बीच में अवलम्ब रह जाता है—अन्यथा अन्तिम सीढ़ी से गिर कर कभी भी भूमिशायी होने की दशा आ सकती है। स्पष्ट है कि शिक्षा का लक्ष्य अस्थिर या लचीला हो तो लाभार्जन हो सकता है।

शिक्षा-लक्ष्य के उपर्युक्त स्वरूप से स्वयं सिद्ध है कि शिक्षा दर्शन ही विचार-शीलता की कसौटी पर विषय की वास्तविकता की परख कर सकता है। यह भी माना जा सकता है कि शिक्षा-दर्शन ही लक्ष्य-निर्धारण का मूल है। विचारशीलता प्रत्येक लक्ष्य की जननी है, और उसका उद्गमस्थल है दर्शन। अतः निर्विवाद सिद्ध है कि 'लक्ष्य', जीवन का हो या शिक्षा का, दर्शन के भिन्न स्वरूपों की उड़ान से बाहर नहीं जा सकता। पहली स्थिति में उसका नाम जीवन-दर्शन होगा, तो दूसरी में शिक्षा-दर्शन।

शिक्षा के सिद्धान्त : दर्शन का क्षेत्र—

सिद्धान्त (Principles) उन नियमों को बोला जाता है, जो किसी भी क्षेत्र में अर्जित अनुभवों का सारभूत तथा सार्वजनिक स्वरूप प्रस्तुत कर सकें। वास्तव में समस्याओं के समाधान के लिए किये जाने वाले संघर्षों के उपसंहार का ही दूसरा नाम सिद्धान्त होता है। शिक्षा के क्षेत्र में इसकी उत्पत्ति ऍडलर के मतानुसार तीसरी स्थिति में होती है; पहली दो स्थितियां अभ्यास और नीति हैं। सबसे पहले शिक्षा की समस्याएं जीवन की समस्याएं बनकर हमारे सन्मुख आती हैं। वे भी दो प्रकार की होती हैं—एक शिक्षा-दर्शन से सम्बन्धित और दूसरी स्वतन्त्र। इसकी जाँच करने के दो

मानदण्ड भी श्री ऐंडलर ने प्रस्तुत किये हैं। पहले तो शिक्षा दर्शन से सम्बन्धित सभी समस्याएं व्यावहारिक होती हैं, जबकि शिक्षा-विज्ञान और शिक्षा-इतिहास की समस्याएं सदैव सैद्धान्तिक ही हैं। परन्तु ध्यान रहे कि प्रत्येक व्यावहारिक-समस्या दर्शन से सम्बन्धित नहीं होती। दूसरे इन समस्याओं को दो भागों में बांट कर देखा जाता है—पहले जिनका सर्वथा (Absolute) या सार्वलौकिक (Universal) हल उपलब्ध हो और दूसरे जिनका हल अन्यापेक्षित (Relatively) या अनिश्चित रूप में (Contingently) प्राप्य हो। इनमें पहली प्रकार की समस्याएं शिक्षा-दर्शन से सम्बन्धित रहेंगी। दूसरी प्रकार की समस्याएं प्रायः व्यक्तिगत सम्मति पर आधारित हैं। परन्तु, क्योंकि शिक्षा दर्शन से सम्बन्धित व्य वहारिक समस्याओं का हल सम्मति से नहीं, ज्ञान से खोजा जाता है, इसलिए उसकी व्यवस्था व्यावहारिक नीति पर आयोजित रहती है। यह व्यावहारिक नीति केवल व्यक्तिगत समस्याओं को ही हल करती है और वह भी मात्र-निश्चय के रूप में।

कभी एक खास ढंग की अनेक समस्याओं का सामना दार्शनिक को करना पड़ता है। उन सभी का वर्गीकरण किया जाए तो उनका व्यक्तिगत अस्तित्व, वर्गगत अस्तित्व बन जाता है और समस्या का स्तर अभ्यास का न रह कर नीति का हो जाता है। इस स्तर का निर्णय भी प्रथम स्तर की तरह व्यक्तिगत न हो कर वर्गगत होता है और एक सामान्य नियम की नींव रखी जाती है। ऐसे नियम भविष्य में भी उस वर्ग से सम्बन्धित या उससे मिलती जुलती समस्याओं का हल ढूंढ निकालने में सफल रहते हैं।

समस्या का तीसरा स्तर नीति को सिद्धान्त रूप में परिवर्तित करता है। यहाँ समस्या न तो व्यक्तिगत विशिष्टता लिये होती है, और ना ही किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। यह स्तर विषय से सम्बन्धित प्रत्येक प्रकार की समस्या का हल प्रस्तुत करता है. इसीलिये इसे अभ्यास या नीति से ऊपर 'सिद्धान्त' नाम से पुकारा जाता है। इसके निर्णय भी सार्वजनीन और सार्वभूत होते हैं। उदाहरण के लिये आज शिक्षा-दर्शन में प्रकृतिवाद एक सिद्धान्त बन चुका है। वह शिक्षा की प्रत्येक व्यावहारिक समस्या का हल अपने ढंग से करेगा और उस हल को सार्वजनिक स्तर पर रखने का सदैव दम भरता रहेगा।

शैक्षणिक-समस्याएं, उनकी स्वरूप-भिन्नता तथा शिक्षा-दर्शन द्वारा उनके हल के निश्चित-मार्गों की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। सार रूप में पाठकों की सुविधा के लिए श्री ऐंडलर द्वारा प्रस्तुत की गई तालिका हम यहाँ देते हैं:—[1]

---

१. Year Book 41. Adler—'In Defence of the Philosophy of Education' P. 225.

स्तर	समस्या का रूप	निर्णय का प्रकार
१. तथ्य या	धारणा (विशिष्ट संकेत)	व्यक्तिगत : निश्चय
२. नीति	धारणाओं का प्रस्तुत वर्ग (श्रेणी)	सामान्य : नियम
३. सिद्धान्त	प्रत्येक अवस्था	सार्वभौमिक : सिद्धान्त का प्रतिपादन

प्रकट है कि शिक्षा-क्षेत्र के सर्व-स्तरों की समस्याएँ या कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों पर अवलम्बित है और उन सिद्धान्तों का जनक है शिक्षा-दर्शन । केवल शिक्षा-दर्शन ही के सहारे सब प्रकार व्यावहारिक समस्याओं के हल खोजे जाते हैं, नियम बनते हैं, सिद्धान्त गढ़े जाते हैं और समय समय पर भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में उनका परीक्षण कर शिक्षण-पद्धतियों और विधियों को जन्म दिया जाता है ।

शिक्षा की विधियां-पद्धतियां : शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र—

विधि, शिक्षा देने के ढंग और पद्धति, वस्तु प्रणाली को बोला जाता है । प्रत्येक प्रकार की अन्तर्निहित शिक्षा विधि और पद्धति की सीमाओं में बंधी रहती है । शिक्षा का इन सीमाओं से बाहर जाने का अर्थ होगा अनियन्त्रण; अनुशासन हीनता या मर्यादों के प्रति विद्रोह ।

इतिहास साक्षी है कि वैदिक काल से लेकर अर्वाचीन युग तक शिक्षा विधियों और पद्धतियों में सम्बन्ध बनी आ रही है । वैदिक काल की विधियाँ, विद्यार्थी के गुरु-घर में रहने, नैतिक-योग्यता रखने, शारीरिक और आध्यात्मिक नियन्त्रण बनाने, मन, वचन और कर्म से गुरु का सम्मान करने आदि में ही सीमित थी । बौद्ध-काल में भी इनका प्रभाव बना ही रहा । कुछ परिवर्तन आये—यथा विद्यार्थी को सदा के लिये गृहस्थ त्याग कर श्रमण या भिक्षु बन विचरण में जाना पड़ता । व्यक्ति-गत ढंग की अपेक्षा श्रेणी-बद्ध ढंग अपना लिया गया । इसी प्रकार मुस्लिम काल में घोटा, डण्डा, लोभादि विधियाँ और अपना ली गईं । आधुनिक युग में नई-नई अनेक विधियाँ आईं, जिनका उदय और विकास बाल-मनोविज्ञान पर आश्रित है । अनेक शिक्षा-विचारकों ने वास्तवीय खोजों के अनुसार नई विधियों का प्रचार किया । रूसो ने ज्ञानेन्द्रियों की परिपक्वता तथा शारीरिक क्रियाओं को बालक के सर्वांगीण विकास के लिए महत्त्वपूर्ण माना । वह 'करो और सीखो' या 'अनुभव से सीखो' पर अधिक जोर देता और शिक्षा में उद्योग का मूल्यांकन करता रहा । पेस्तालोजी स्वानुभूति और प्यार को ही सर्वस्व मानने लगा । हरबर्ट विद्यार्थी के पुराने ज्ञान को नये विचारों में समन्वित करने के नियमित पदों (Formal steps) की लम्बी सूची प्रस्तुत करता है । फ्रॉबिल ने आत्म-क्रियाशीलता पर अवलम्बित किंडर-गार्टन विधि की देन दी । ड्यूई ने प्रोजेक्ट-मेथड तथा व्यावहारिकता दी, तो माण्टेसोरी प्रबोधक-सामग्री (Didactic Material)

से बालकों को एन्द्रीय-ज्ञान प्रदान करने पर जोर देती रहीं। अभिप्राय यह कि सनातन-काल से शिक्षा विधि-बद्ध है, और यह सर्वमान्य है ही कि उन विधियों के निर्माता सबके सब दार्शनिक थे। आधुनिक युग के रूसो, हरबर्ट, फ्रॉबेल आदि के दार्शनिक-सिद्धान्त तो शिक्षा-क्षेत्र की अमूल्य-निधियाँ बन चुकी हैं। पुरातन ऋषि-मुनि या बौद्ध-भिक्षु तत्कालीन दार्शनिक-सूत्रों के प्रणेता हैं। जंगल में वे ही अध्यापन करते थे, लक्ष्य और सिद्धान्तों का निर्णय करते थे, तथा विधियों का नियोजन भी उन्हीं की इच्छा पर निर्भर रहता था। स्मरण रहे, ये विधियाँ अधिनायकत्व लिए हुए न थीं, इनके तल में गंभीर विचारशीलता और लक्ष्य-प्राप्ति के आयोजन छिपे रहते थे। विधि और लक्ष्यों की एक-सूत्रता का प्रयत्न किया जाता था। यही कारण है, कि युग परिवर्तन के साथ-साथ जीवन-परिवर्तन और जीवन-परिवर्तन से लक्ष्य-परिवर्तन और लक्ष्य-परिवर्तन से विधि-परिवर्तन देखने को मिलता है। काल-दर्शी शिक्षा-शास्त्री (जो पहले दार्शनिक थे), समयानुसार नवीन-विधियाँ लिये अवतरित हुए और शिक्षा दर्शन की कसौटी पर समय की माँग और विचार-परिवर्तन के सत्त्व से पराभूत हो उन्होंने शिक्षण-कला में अपेक्षित अन्तर प्रस्तुत किए।

पद्धतियों का प्रश्न भी ठीक ऐसा ही है। उनका इतिहास भी योग और तप से चलकर आधुनिक वर्गगत शिक्षा, जिसमें क्रियाशीलता और स्वानुभव को महत्त्व दिया जाता है, विद्यार्थियों को शिक्षा का केन्द्र बनाया और बालकों की रुचियों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को अपनाया गया है आदि, तक अग्रपद दीखता है। पुरानी शिक्षण-प्रणालियों की मार प्यार में, कठोर-अनुशासन स्वतन्त्रता में और शारीरिक-दण्ड मनोवैज्ञानिक-प्रेरणा में बदल चुके हैं। अध्यापक के तानाशाही अधिकार सीमित और संकुचित हो रहे हैं—ये सब क्यों? समय-समय पर कालगत माँगों के अनुसार यह पद्धति-परिवर्तन क्यों? उत्तर स्पष्ट है, शिक्षा-दर्शन के कारण। दार्शनिक-शिक्षा-शास्त्री यदि समय की आवश्यकताओं का अध्ययन न करते, नये विचारों की क्रांति न फैलाते, तो आज का युग आज का न होकर कल का ही रह जाता।

शिक्षा का गुण-दोष विश्लेषण : शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र—

विधियों और पद्धतियों के क्षेत्र में उपयुक्त परिवर्तन से स्वयं-सिद्ध है कि शिक्षा-क्षेत्र में आने वाले सामयिक दोषों के कारण ही तो उनमें नवीन और उपयुक्त गुणों का सामंजस्य किया गया होगा। पुरानी दोषपूर्ण पद्धतियां हटाकर नई, मनोवैज्ञानिक और अधिक पुष्ट पद्धतियों का परिचय देने में शिक्षा-दर्शन ने जो कार्य किया है, वह उसके क्षेत्र में गुण-दोष विश्लेषण की मुँह बोलती तस्वीर है। इस पर गम्भीर विचार करने के लिए हमें शिक्षा के गुण-दोषों तथा स्वयं शिक्षा-शास्त्र का पारिभाषिक स्वरूप देखना होगा।

शिक्षा-दर्शन वह ज्ञान है, जो शिक्षा के प्रयोग तथा व्यावहारिकता से पहले उसका सर्वांगीण मूल्याङ्कन करता है। उसके लक्ष्य और सिद्धान्तों का निर्णय तथा क्रियात्मक-विकास हेतु विधियों और पद्धतियों का चुनाव दार्शनिक मस्तिष्क की उपज है। युग, जीवन और लक्ष्यों को सड़न से बचाने के लिये समय के साथ पुरातनता के गुणों को बनाए रखना, दोषों का निराकरण करना और शिक्षा-क्षेत्र की कालगत माँगों का ध्यान रखना—ये सब शिक्षा-दर्शन के पारिभाषिक अंग हैं। जीवन के सम्पूर्ण सद्गुणों का रहस्य शिक्षा-दर्शन ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने का सामर्थ्य रखता है। सार यह कि 'शिक्षा-दर्शन' शिक्षा का सर्वांगीण वास्तविक 'दर्शन' है।

जिस प्रकार स्वच्छ जल में भी कहीं मिट्टी के कण छिपे रहते हैं, स्वस्थ शरीर में रोग के कीटाणु उपस्थित होते हैं और पुष्प-पराग में भी हानिकारक तत्त्वों का मिश्रण मिलता है, ठीक वैसे ही सर्वांगीण गुणवन्ती शिक्षा में कभी दोष के तत्त्व भी पनपते रहते हैं। बूँद-बूँद जल से सागर भर जाता है, कण-कण माटी पर्वतेश का रूप धारण करती है, उसी तरह शिक्षा-क्षेत्र के वे पनपते हुए अदृश्य दोष धीरे-धीरे मुखरित हो उठते है। शिक्षा के सैद्धान्तिक अध्ययन करने वाले की पैनी दृष्टि से वे साधारण दोष भी बच नहीं पाते—तब करता है वह शिक्षा का विश्लेषण, चीर-फाड़, दोष-निवारण तथा नूतन-गुणाभिनन्दन। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शिक्षा के व्यावहारिक शरीर में दोष रूपी जहरबाद का एकमात्र उपचार दार्शनिक के तर्क और विचार-शीलता के नश्तर से ही सम्भव है। शिक्षण-विधियों और लक्ष्यों के बुढ़ापे में यौवन दान देने के लिये दार्शनिक अश्विनीकुमारों से कम महत्त्व नहीं रखता। यही कारण है कि शिक्षा का गुण-दोष विश्लेषण शिक्षा-दर्शन की क्षेत्रीय-सीमा के अन्तर्गत एक महत् स्थान रखता है।

उपर्युक्त कथनों की पुष्टि के लिए हम पुनः शिक्षा के इतिहास से सहायता लेते है। जंगल का युग बीता, सुभीते और सुविधाओं की आवश्यकता पड़ी—भला क्यों? इसलिये कि इस स्थिति में शिक्षार्थियों का बहुत-सा समय भिक्षा माँगने, अपनी शरीर रक्षा करने,तथा गुरु की पालना करने में व्यतीत हो जाता था, विद्यार्थी दत्त-चित्त अपने अध्ययन में संलग्न न रह सकते थे। तत्कालीन युगनेता शिक्षा-दार्शनिकों ने अवस्था के इस दोष का अनुभव किया और भारतीय शिक्षा का स्वरूप बदला नालंद, विक्रम-शिला और तक्षशिला के विश्वविद्यालयों की पद्धतियों में। मुस्लिम-युग की अव्यवस्था के कारण शिक्षा-प्रणालियों में अनेक दोष आए जोकि आधुनिक युग तक चलते ही रहे। बालक पर शिक्षा मदरसे और मकतबों में ठूँसी जाने लगी। बलपूर्वक विद्यार्थियों पर उचित या अनुचित नियन्त्रण लादा जाने लगा, जिसके अभाव में अध्यापक जल्लाद रूप में प्रकट होते हुए भी न हिचकते थे। शालाओं में अनेक प्रकार की चरित्र-हीनता,

कपट, दुष्टता तथा दण्ड का साम्राज्य हो गया। बालक का शाला में जाना, बकरे के कसाई के हाथों में जाने से कम न था। बाल मनोविज्ञान तो दूर की बात थी, बच्चे की रुचि तक का किसी को कोई ध्यान न रहता था। अध्यापकगण समझने लगते थे कि सम्भवतः शिक्षार्थी उन्हीं की तरह विचारशील, संवेदनशील तथा आकांक्षापूर्ण हो ही नहीं सकता। वे उन्हीं के शब्दों में 'गधे को आदमी बनाते थे', पीट कर, दण्ड देकर तथा आतंकाश्रित घोटा लगवाकर। पुनः, विद्यालयों में बालक के बौद्धिक-विकास का नाप-तोल कोई न जानता था। मानसिक या शारीरिक, स्वास्थ्य की तो विद्यालयों में उपेक्षा ही की जाती थी। अतः कहना न होगा कि शिक्षा अनेक दोषों के बोझ तले दब चुकी थी। अंग्रेज साम्राज्य-काल में रूसो, पेस्तॉलोजी और हरबर्ट सरीखे पश्चिमी दार्शनिकों तथा टैगोर, गाँधी और स्वामी श्रद्धानन्द सरीखे भारतीय विचारकों ने इसका विरोध किया। उपर्युक्त दोषों के निवारण-हेतु क्रान्ति की गई। रूसो ने प्राकृतिक-विकास पर ज़ोर देते हुए, बालकों की स्वतन्त्रता का पक्ष लिया। पेस्तॉलोजी ने विद्यालय को मार का कसाईखाना नहीं बल्कि प्यार का दुलारघर बनाने की माँग की। हरबर्ट ने अध्यापन में घोटा-पद्धति का विरोध कर नव-समन्वय की स्थापना की। भारत में गाँधी जी ने भारतीय परिस्थितियों और समय की आवश्यकता के अनुसार क्रियात्मकता या व्यावहारिकता पर जोर दिया, टैगोर आदर्श-सिद्धान्तों और उपयोगिता पर बल देने लगे और गुरुकुल पुरातन आर्य-सिद्धान्तों को आधुनिकता के साँचे में ढालकर शिक्षा-क्षेत्र के दोषों का निवारण करने हेतु कटिबद्ध हुआ। अभी भी जो थोड़े बहुत दोष रह गये थे, आधुनिकतम युग के दार्शनिकों फ्रॉबेल और मॉण्टेसोरी के प्रयोगों से उनका अन्त करने के सद्प्रयास हुए। कहने का अभिप्राय यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में युगों-युगों से प्रकट होने वाले दोषों का निराकरण महान् शिक्षा-विचारकों या दार्शनिकों द्वारा हुआ। उनकी पैनी विचार-शक्ति शिक्षा के दोषों को हटा, गुणों को विकसित करने का समर्थ उपाय ढूँढती रही। उनके सिद्धान्त, जो वास्तव में शिक्षा-दर्शन का ही दूसरा नाम है, शिक्षा का गुण-दोष विश्लेषण करते रहे, करते रहेंगे।

दोष निवारण के साथ-साथ शिक्षा-दर्शन गुण संचार के कर्तव्य को भुला नहीं देता। शिक्षा का लक्ष्य है जीवनोत्थान और यह केवल सद्गुणों के अर्जन से ही सम्भव हो सकता है। अतः शिक्षा-दर्शन जहाँ शिक्षा के लक्ष्यों में सद्गुणों का सामंजस्य प्रस्तुत करता है, वहाँ उन सद्गुणों की प्राप्ति हेतु वातावरण बनाने के लिए यह नवीन-मनोवैज्ञानिक विधियों का परिचय भी देता है। इसका सबसे बड़ा लाभ बालक-मन में सदेच्छाओं, उच्चाकांक्षाओं तथा पावनता की महत् कामनाओं की जागृति होती है। ऐसे वातावरण में पनपा हुआ कोई भी सद्गुण जीवनोत्थान का कारण बन जाता है। अतः निर्विवाद सिद्ध है कि शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र इतना विस्तृत है, इतना विशाल है,

इतना महत्वपूर्ण है, कि शिक्षा का कोई भी अंग इसकी सहायता के बिना अपूर्ण है। शिक्षा-दर्शन के अभाव में शिक्षा रूप, रस, गन्ध और मादकता के बिना मदिरा-पान के बराबर रह जायगी। सार यह कि जो शिक्षा अपने आधारभूत अवलम्ब, दर्शन (विचार-शीलता तथा ज्ञान) से वंचित-प्राय होगी, वह प्राण-विहीन शरीर या साहित्यिक-भाषा में निराशा की टूटे तार की छुटी लता-सी दीन विधवा के समान समझी जायगी।

शिक्षा-दर्शन का लक्ष्य—

अङ्क-गणित (Algebra) में प्रायः संतुलित अङ्कों से इस प्रकार परिणाम निकाले जाते हैं—

क = ख

ख = ग

∴ क = ग

यही स्वरूप शिक्षा-दर्शन के लक्ष्य का भी है। हम पीछे लिख चुके हैं—

शिक्षा-दर्शन का लक्ष्य = शिक्षा की सफलता

शिक्षा की सफलता = जीवन का उत्थान

∴ शिक्षा-दर्शन का लक्ष्य = जीवनोत्थान

प्रकट है कि शिक्षा-दर्शन का अन्तिम-लक्ष्य जीवनोत्थान ही है। क्योंकि जीवनोत्थान की प्राप्ति सद्गुणी शिक्षा से ही उपलब्ध है, अतः शिक्षा के क्षेत्र में सहज प्रयोग तथा सम्पन्नता प्रस्तुत करना शिक्षा-दर्शन के लक्ष्य की साध्यसिद्ध-अवस्था समझी जाती है। इस अन्तिम लक्ष्य के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं, किसी को कोई आपत्ति नहीं। द्वन्द्व केवल तब उठता है, जब भिन्न विचारकों द्वारा 'जीवनोत्थान' की अलग-अलग व्याख्याएं की जाती हैं। ऊपर बताया गया है कि दर्शन सर्व-सामान्य रूप में शिक्षा का सिद्धान्त है,[1] तो प्रायः सभी दार्शनिक अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापते हुए शिक्षा के ठेकेदार बनते हैं, और क्योंकि दर्शन साधारणतः जीवन के आदर्शों और कल्पनाओं की ओर संकेत करता दीख पड़ता है, इसलिये प्रत्येक ठेकेदार निजी पद्धति के अनुसार शिक्षा के निर्धारित लक्ष्य 'जीवनादर्श' पर अपने मन के घोड़े दौड़ाता रहता है। जीवन के दो अङ्ग स्वीकार किये जा सकते हैं—१. जैसा है, २. जैसा होना चाहिए। शिक्षा का कर्मक्षेत्र ये दोनों अंग हैं। यह 'जैसा है' को सुव्यवस्थित करती है, और 'जैसा होना चाहिए' को साध्य बनाकर प्राप्ति के साधन जुटाती है। इतना सब करने के लिए उसे दर्शन से पथ-प्रदर्शन मिलता है। दर्शन ही 'जैसा होना चाहिये' के

---

१. It is the theory of education in its most general phases—'Dewey's Democracy & Education'. P. 386

सुझाव देता है अतः स्वाभाविक है कि प्रत्येक विचारक के अनुसार जीवन 'जैसा होना चाहिये' उसकी व्यक्तिगत परिस्थितियों विवशताओं, कल्पनाओं, सामयिक मांगों तथा निजी अनुभवों पर अवलम्बित रहता है। इसीलिये तो शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र में समय-समय पर अनेक-दार्शनिक-सिद्धान्तों को अपनाया गया और हर बार पूर्व-परिणीत सिद्धान्त के दोषों को हटा कर नूतन-गुणों के परिग्रहण की क्रांति सी मची रही। लक्ष्य सबका जीवनोत्थान था, परन्तु विचारधारा जुदा होने के कारण जीवन की परिभाषा भी जुदा थी और जीवन के आदर्श भी।

फ्रांस की प्रचण्ड और विपरीत परिस्थितियों ने रूसो को जन्म दिया। संघर्ष और उपेक्षा में पलकर वह शिक्षा-दार्शनिक बना उसकी दार्शनिकता का लक्ष्य भी जीवन का 'क्या होना चाहिए' ही था। वह भी जीवनोत्थान हेतु आदर्शों का निर्वाचन करना चाहता था, परन्तु फिर भी क्या कारण था कि उसके जीवनोत्थान का अर्थ लगभग उसी के समकालीन स्विट्ज़रलैंड के पेस्तॉलोजी से बिल्कुल भिन्न रहा? जहाँ रूसो बालक के जीवन में स्वतन्त्रता और प्राकृतिक-विकास से ही पराकाष्ठा की कल्पना करता है, वहाँ पेस्तॉलोजी स्वतन्त्रता के संग निषेध और अनुशासन का महत्व भी स्वीकार करता है। जहाँ रूसो मानसिक-विकास पर ज़ोर देता है, वहाँ पेस्तॉलोजी बालक की मानसिक बौद्धिक और नैतिक शक्तियों के अनुरूप विकास की अपेक्षा पर दबाव डालता है। यही दशा अन्य शिक्षा-दार्शनिकों की भी है। कोई जीवनादर्शों की पराकाष्ठा से नीचे नहीं ठहरता। परन्तु क्योंकि सबके जीवन-विकास के स्वरूप भिन्न हैं, इसलिये आदर्शों में भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि शिक्षा के क्षेत्र में एक ही लक्ष्य को भिन्न भाषा और साधनों द्वारा प्रस्तुत करने के कारण नाम-मात्र के अन्तर से अनेक सिद्धान्त चल निकले हैं। कोई भौतिकवाद, कोई प्रकृतिवाद, कोई आदर्शवाद और कोई व्यवहारवाद, आदि। भौतिकवाद शिक्षा के भौतिक लाभों को ही जीवनादर्श मानता है, प्रकृतिवाद मानसिक-विकास की ओर संकेत करता है। आदर्शवाद तो शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक और धार्मिक, औद्योगिक और प्रयोगात्मक, सब प्रकार के जीवनादर्शों का पोषक है। व्यवहारवाद क्रियाशीलता और तथ्यानुभव ही जीवनोत्थान के साधन स्वीकार करता है तथा उपयोगिता को मुख्य उद्देश्य बनाता है। अभिप्राय यह कि भिन्न परिस्थितियों में पनपने वाले शिक्षा-दार्शनिकों ने अपने-अपने विचार और स्थिति के अनुसार जीवनोत्थान के मार्ग खोजे और आदर्श निर्धारित किये। सिद्ध है कि शिक्षा-दर्शन का लक्ष्य सदैव जीवनोत्थान ही रहा है, जो कि शिक्षा का अन्तिम और महत् लक्ष्य भी है, परन्तु मनव ने प्रत्येक व्यक्तिगत सिद्धान्त पर अपनी छाप लगा दी है।

दर्शन और शिक्षा : उनका परस्पर सम्बन्ध

दर्शन—शॉपनहॉवर के मतानुसार संसार का प्रत्येक मनुष्य जन्मजात दार्शनिक है। क्यों? सम्भवतः इसलिये कि शिशु के जगति का प्रकाश देखने के दिन से मृत्यु पर्यन्त वह प्रकृति में घटित होने वाली प्रत्येक घटना को उत्सुकता से देखता है, नूतन अनुभवों से नीति और नियमों का आविष्कार करता है, और स्थिति के 'क्यों, कैसे और क्या' पर पैनी दृष्टि से आक्रमण करता दीख पड़ता है। प्रत्येक नई बात की तह तक पहुँचना उसका स्वभाव बन गया है और वह परिस्थितियों से कोई-न-कोई उपसंहार निकाले बिना मानसिक-शांति-लाभ नहीं कर पाता। तभी तो वह जन्मजात दार्शनिक है, सत्य का ग्राहक है और तथ्यान्वेषक। आज, बाजार के एक कोने से लेकर रेल्वे-प्लेटफ़ार्म की भिन्न श्रेणियों तक, स्कूल और अदालत, सिनेमा और मतघर, खेल का मैदान और कुश्ती का अखाड़ा, घर की चार-दीवारी या विश्व का कोई भी स्थान, जहाँ भी आप चले जाइये, बाल-वृद्ध, नर-नारी, युवक-युवती सब तीन ही प्रश्नों की सीमा में बंधे मिलेंगे—क्या? क्यों?? कैसे??? इसी का सार तो शॉपनहॉवर ने उपर्युक्त पंक्ति से प्रस्तुत किया है। परन्तु ध्यान रहे मानव-ज्ञान इन सब प्रश्न-चिह्नों से परिवर्द्धित अवश्य होता है, इनसे उसे प्रस्फुटन कभी नहीं मिलता। प्रस्फुटन-प्राप्ति होती है आत्मानुभव से। आत्मानुभव पर आधारित ज्ञान पुष्ट और आजीवन पथ-प्रदर्शक रहता है। उदाहरण लीजिये—एक बालक प्रतिदिन अपने माता-पिता द्वारा अग्नि के स्पर्श का निषेध पाता है। वह इस प्रतिबन्ध के विरुद्ध विद्रोह करता है। बारबार माता-पिता से पूछता है कि अग्नि को क्यों न छुआ जाए। परन्तु बेचारे माता-पिता, अतिरिक्त इतना बताने के कि आग जला देती है, और कोई उत्तर नहीं दे पाते। बालक छोटा दार्शनिक है। उसकी उत्सुकता शान्त नहीं होती। वह पूछता है, आग में जलाने वाली क्या चीज है? आग कैसे जलाती है?? आग क्यों जलाती है??? माता इन प्रश्नों को टाल देती है, पिता बालक को डाँट बता देते हैं, उसकी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। उसके हल के लिये वह अन्ततः स्वयं अनुभूति प्राप्त करने हेतु कटिबद्ध होता है। किसी दिन जब पिता दफ़्तर चले जाएँ, माता कहीं घर के काम में व्यस्त हो, तो वह चुपके से रसोईघर में घुसता है और चोरी-चोरी अग्नि को छू ही तो लेता है। सेंक लगते ही हाथ पीछे हट जाता है, सुप्त-ज्ञान जागृत होता है—सदा के लिये उसकी ऊपर वाली समस्याओं का हल मिल जाता है। सब प्रश्नों का

एक-मात्र उत्तर 'आग जलाती है' के रूप में उसे प्राप्त हो जाता है । उस दिन हाथ जला लेने के उपरान्त वह मृत्यु-पर्यन्त कभी आग को नहीं छूता । बल्कि अपने पुष्ट-ज्ञान पर आश्रित वह अन्य सभी को भी सदा के लिए यही समझाता रहता है कि अग्नि को कभी मत छुओ । बस, यह ज्ञान उसके आत्मानुभव का अंश होता है, और इसी प्रकार के अनेक ज्ञान मिल कर उसके जीवन की नीति का निर्माण करते हैं। वही नीति उसका जीवन-दर्शन कहलाती है ।

सुकरात से जब पूछा गया कि वास्तविक दार्शनिक कौन हो सकता है, तो उसका उत्तर था, 'जो पूर्ण सच्चाई का अभिलाषी हो' ।[१] मानव अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्यता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । उसका एक ही लक्ष्य रहता है— अपने वातावरण को समझकर जीवन का नियमित संचालन । परिस्थितियों की सच्चाई का ज्ञान उसे जीवन के प्रति सजीव बना देता है और वह एक निश्चित धारा पर अपने को अवलम्बित करता हुआ संसार के प्रति एक नीति अपना लेता है । ऑलडस हक्सले ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—'सब लोग अपने जीवन-दर्शन तथा संसार के प्रति निश्चित-धारणा के अनुसार ही जीवन-यापन करते हैं ।' पूर्णतः विचारहीन लोगों के सम्बन्ध में भी यह सत्य है । तत्व-ज्ञान (Metaphysics) या पराभौतिक-लक्ष्य के बिना निर्वाह असम्भव है । हमें दिया गया विकल्प तत्त्व-ज्ञान और तत्त्व-ज्ञानहीनता के बीच नहीं, प्रत्युत इसका अस्तित्व सदैव भले और बुरे पराभौतिक-लक्ष्य के बीच चुनाव करने पर आश्रित रहा है । प्रथम कोटि का तत्व-ज्ञान अनुभवों को विचार की कसौटी पर परखकर वास्तविकता का पता चलाता है और दूसरी कोटि का इस क्षेत्र में मौन भी हो सकता है ।[२] स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन के प्रति बहुत-सी धारणाएँ बना लेता है और उन धारणाओं के ही अनुसार पनपता, जीता और मर जाता है । तभी तो व्यावहारिकता को अधिक महत्ता देने वाले और शिक्षा से दर्शन

---

१. Republic V.

२. Men live in accordance with their Philosophy of life, their conception of the world. This is true even of the most thoughtless. It is impossible to live without a metaphysics. The choice that is given to us is not between some kind of metaphysics and no metaphysics; it is always between a good metaphysics and a bad metaphysics, a metaphysics that corresponds reasonably closely with observed and inferred reality and one that does not.— Aldous Huxley's 'Ends and Means,' quoted by J. S. Ross.

की ओर उन्मुख रहने वाले विचारक ड्यूई ने लिखा है कि जब भी दर्शन पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया तभी यह मान्य हुआ कि इससे ऐसी योग्यता का उदय होता है जो जीवन-शैली पर अखण्ड प्रभाव डालती है ।[1] आगे चलकर उसने उदाहरण देते हुए यह भी सिद्ध किया है कि लगभग दार्शनिकता की सभी पुरातन-पद्धतियाँ रहन-सहन की व्यवस्थित पृष्ठभूमि भी अपनाए थीं; जिससे स्पष्ट है कि जीवनानुभवों के सार में अभिभूत धारणा ही, जिसके अनुसार मानव व्यवहार करता है, उसका जीवन-दर्शन कहलाती है ।

उपर्युक्त व्याख्या से प्रकट है कि जीवन में किसी विशिष्ट-विश्वास का पालक व्यक्ति, स्वयं उसको व्यावहारिक रूप भी देगा । सच तो यह है कि विश्वास (जीवन-दर्शन) का महत्व केवल तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब वह अपने पोषक को निजी धारणा के अनुसार चलाने का सामर्थ्य रखता हो । इससे स्वयं-सिद्ध है कि जीवन-सम्बन्धी भिन्न धारणाओं (दर्शन) का परिणाम भिन्न प्रकार की जीवन-स्थितियाँ होंगी । एक चार्वाक के लिये काम और अर्थ ही जीवन-लक्ष्य होंगे, धर्म और मोक्ष नहीं । खाना, पीना, सोना और वासना-तृप्ति करना उसके लिये जीवन की वास्तविकता होगी; धन अपना हो या पराया, उस पर गुलछर्रे उड़ाना उसका ध्येय बनेगा और उसका प्रकटीकरण होगा भाषा-बद्ध दार्शनिक-सिद्धान्तों में । यथा—

यावज्जीवेत् सुखम्-जीवेत् ऋणम् कृत्वा घृतम् पिवेत्,
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ।

इसी प्रकार एक वेदान्ती 'जगन्मिथ्या, ब्रह्मसत्यं' की रट लगाता हुआ संसार के सम्पूर्ण अस्तित्व को माया कह, उसके महत्व को अस्वीकृत कर देता है । उसके व्यावहारिक सिद्धान्त भी 'नेति-नेति' पर पोषित होने के कारण 'एको ब्रह्मः द्वितियो नास्ति' के लक्ष्य को सर्वस्व मानकर सदैव प्रचारित करते रहेंगे। इसी प्रकार एक उमर-खैयाम आनन्दान्वेषी जीवन का साधक होगा, एक अबू-बेन-आदम ईश्वर के बनाए प्राणियों की सेवा करने में ही प्रसन्न रहेगा, भौतिकवादी भौतिक लाभ को ही सर्वस्व समझेगा और प्रकृतिवादी शारीरिक या मानसिक विकास में प्रकृति के अतिरिक्त किसी अन्य का हस्तक्षेप कदापि सहन नहीं करेगा । कहने का तात्पर्य यह कि मानव-क्रियायें सदा उसकी विशिष्ट धारणाओं पर ही आधारित रहती हैं । इसके विपरीत-तथ्य भी मान्य

१. Whenever Philosophy has been taken seriously, it has always been assumed that signified achieving a wisdom that would influence the conduct of life.—'Dewey's Democracy and Education'. P. 378.

हैं। हम व्यक्ति के जीवन-व्यवहारों में उसके सिद्धान्तों की परख करते हैं। प्रायः सुना जाता है कि क्रियाएं शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रकटीकरण प्रस्तुत करती हैं। फल में बीज के गुणों का पता स्वयमेव चल जाता है। ऐसी श्री जे० एस० रॉस की मान्यता है।

कुछ लोग, जो अपने जीवन-सिद्धान्तों को असाधारणता की स्थिति तक ऊँचा उठाते हैं, और चाहते हैं कि अन्य व्यक्ति भी उनके विचारों को स्वीकार करें, वे भिन्न रीतियों से दूसरों पर अपने विचारों का प्रभाव डालने का उपक्रम करते हैं। यही शिक्षा की पृष्ठभूमि है। इसके उदाहरण ढूंढने के लिये भी कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। भारत में अनेक ऐसे महानुभाव पैदा हो चुके हैं, जिन्होंने न केवल भारतीयों पर ही अपने विचारों का अखण्ड प्रभाव डाला है, बल्कि पाश्चात्य-विद्वान् भी उनके जीवन-दर्शन के सम्मुख नत-मस्तक हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वा० रामतीर्थ, स्वा० विवेकानन्द, स्वा० दयानन्द, स्वा० श्रद्धानन्द, भगवान् देवात्मा, म० गांधी, डॉ० टैगोर आदि महापुरुष अधुनिक युग में भारत की धरती को पावनता प्रदान कर चुके हैं। अपने जीवन के महान् सिद्धान्तों को उन्होंने न केवल अपने ही व्यवहार तक सीमित रखा, अपितु दूसरों पर उनका प्रभाव डालने के लिए अन्य के जीवन को भी अपने ही सिद्धान्तों पर पनपने की सार्थकता प्रदान करने के लिये, उपदेश और शिक्षा का क्षेत्र अपनाया। आज भी रामकृष्ण मिशन, आर्य-समाज, देव-समाज आदि संस्थाएं संचालकों के सिद्धान्तों का प्रचार कर रही हैं। गुरुकुल शिक्षा, बुनियादी तालीम तथा शान्ति-निकेतन पद्धतियां अपने प्रणेताओं के विचारानुसार शिक्षा दे रही हैं। अभिप्राय यह कि शिक्षा-पद्धति का उदय भिन्न जीवन-दर्शनों तथा उनके बहुज-विकास की इच्छा से ही होता है।

शिक्षा—शिक्षा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से हुई है, इसका अर्थ है 'सिखाना'; अर्थात् मनुष्य को वह बनने में सहायता देना जो वह इसके बगैर नहीं। मानव-पुत्र जन्म से मृत्यु तक प्राकृतिक-विकास की ओर अग्रपद रहता है। यह विकास प्रायः यथार्थता से भावी शक्तियों की प्राप्ति की ओर होता है। यदि मनुष्य को उसकी नैसर्गिकता पर छोड़ दिया जाए तो उसका ज्ञान, मात्र उसके अपने जीवनानुभवों तक ही सीमित होगा और उसके पूर्वजों द्वारा किया ज्ञान-संचय उसके लिये सदा पहेली बना रहेगा। शिक्षा उपर्युक्त स्थिति में संशोधनात्मक-क्रिया बन जाती है और मनुष्य के वातावरण के प्रकृतपन को गुजरा हुआ रूप देती हुई उसके ज्ञान-वर्धन में सहायक सिद्ध होती है। सच तो यह है कि मनुष्य जिस व्यापार से कुछ सीखता है, मानसिक, बौद्धिक या शारीरिक विकास प्राप्त करता है, जिससे उसकी मानवता की व्यवस्था होती है, या जो उसकी निकृष्ट प्रवृत्तियों को शान्त रखता और उसमें सद्गुणों की

अभिवृद्धि करता है, वह शिक्षा का ही अङ्ग है। मानव-मन में चेतना-प्रवाह कुछ ऐसा प्रवल रहता है कि एक समय में अनेकानेक भाव उसके बुद्‌बुदों की भान्ति पैदा होते, बढ़ते, तिरते, फूटते और तितर-वितर होते रहते हैं। जिस प्रकार जल-प्रवाह में कुछ बुद्‌बुद शीघ्र लुप्त हो जाते है और कुछ देर तक बने रहते हैं, वैसे ही मानव-मन के भाव-प्रवाह में भी कुछ भाव प्रकट होते ही मिट जाते हैं, और कुछ का अस्तित्व देर तक बना रहता है; इन भावों में भली और बुरी प्रकार की चेतनाओं का साम्राज्य खड़ा किया जाता है और सामयिक-पुष्टि पर आधारित मनुष्य उनसे प्रेरित हो भले और बुरे कर्म भी करता है। शिक्षा वह शक्ति है जो इन भावों को बुद्धि के मान-दण्ड पर परखने का सामर्थ्य प्रदान करती है, और मनुष्य बहुत से ऐसे दुष्कार्यों से बच जाता है, जो शिक्षा की अनुपस्थिति में भाव-प्रवाह में बहता हुआ सम्भवतः वह कर ही डालता। अतः सिद्ध है, शिक्षा मानव में मानवता की जागृति का कारण बनती है। उसकी अव्यवस्थित और नृशंस पाश्विक प्रवृत्तियों को सुधार और निर्माण की ओर मोड़ती है। इतना ही नही, शिक्षा महत्त्वाकांक्षाओं की मानवोचित पूर्ति का एकमात्र साधन भी है।

उपर्युक्त साधारण व्याख्या से प्रकट है कि शिक्षा की प्राप्ति और प्रभाव स्वीकृति संकल्पयुत-क्रियाएं हैं। संकल्प का सम्बन्ध क्योंकि सदा मनुज-विशिष्ट से रहता है, अतः शिक्षा के व्यापार की पूर्ति में व्यक्तिगत शिक्षक का होना भी अनिवार्य है।[१]

शिक्षा : द्विध्रुवी प्रवृत्ति—अब तक की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि शिक्षा का व्यापार एक ही समय में दो व्यक्तियों पर केन्द्रित रहता हैं। एक का ध्येय शिक्षा देना और दूसरे का लक्ष्य शिक्षा प्राप्त करना होता हैं। ध्यान रहे, हमने यहां अध्यापन क्रिया की बात नही की, अतः वे दोनों व्यक्ति कम से कम अध्यापक और शिष्य नही कहला सकते। अध्यापन का क्षेत्र सीमित है। केवल पाठ्य पुस्तकों और निश्चित क्रम पर आधारित-रहता है। शिक्षा का क्षेत्र अति विस्तृत है। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर हर प्रकार का प्रभाव शिक्षा कहला सकता है, जिसके क्षेत्र मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक के अतिरिक्त औद्योगिक, व्यापारिक, व्यावसायिक या व्यावहारिक भी हो सकते हैं। पुनः अध्यापन शिक्षा का केवल एक साधन है।

---

१. We may think of Education, not as any influence, but as purposive influence, and since purpose implies a person, we see that there must be a personal educator—Ross. 'Groundwork of Educational Theory', p. 19.

उसके द्वारा व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान किया जा सकता है, परन्तु शिक्षक का व्यक्तिगत प्रभाव शिक्षार्थी पर नहीं पड़ता। इस व्यक्तिगत प्रभाव के अभाव में शिक्षा-प्रदान की प्रतिक्रिया का वास्तविक परिणाम अविज्ञ ही रह जाता है और शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों बाह्य-परिचित और आन्तरिक-अपरिचित बने रह जाते हैं। स्पष्ट है कि यदि एक के व्यक्तित्व, विचारधारा, भावों तथा चेतना का प्रत्यक्ष प्रभाव दूसरे पर पड़ता रहे, और दूसरे में कोई प्रतिक्रिया दृष्टिगत न हो, तो स्वभावतः ही एक क्रियाशील (Active) और दूसरा निष्क्रिय (Passive) कहलायेगा। लेकिन शिक्षार्थी कोई निर्जीव पदार्थ तो नहीं ; उसमें भी भावनायें जगती हैं, तरंगें कल्लोलित होती हैं और विचार पनपते हैं। वह भी अनुभव करता है, संवेदनशील प्राणी है। अतः स्वाभाविक है कि शिक्षक के चलाए शिक्षा-बाण का प्रभाव उस पर पड़ेगा और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वह अपने अन्तर्मन का पुनर्निर्माण करेगा, जोकि शिक्षक की सफलता का द्योतक होगा। इससे हम निम्नलिखित परिणाम तक पहुँचते हैं —

१. शिक्षा एक द्विध्रुवी प्रवृत्ति है, जिसमें एक व्यक्तित्व दूसरे के विकास में सुधार हेतु उस पर प्रभाव डालता है।

२. यह प्रवृत्ति केवल चेतन ही नहीं, स्वेच्छित भी है। शिक्षक अपने शिक्षार्थी के विकास के सुधार की यथेष्ट योजना बनाता है।

३. शिक्षार्थी के सुधार के साधन दो प्रकार के हैं—(क) शिक्षक के व्यक्तित्व की शिक्षार्थी के व्यक्तित्व पर प्रकट आरूढ़ता, (ख) ज्ञान का भिन्न रूपों में प्रयोग।[1]

शिक्षा के भिन्न लक्ष्य—

शिक्षा को कई अन्य साँचों में ढाल कर भी देखा जा सकता है, यथा आगामी जीवन के प्रति साधना। बाल्यकाल में शिक्षा-प्राप्ति वयस्क के लिए ज्ञान बन जाती है। वास्तव में शालाओं और महाविद्यालयों में प्राप्त की शिक्षा, आज गृहस्थी का बोझ उठाने, कमाने और जीवन-चर्या के सुगम-मार्ग खोज निकालने के लिये अनिवार्य हो गई है। बिना प्रमाण-पत्र नौकरी की उपलब्धि एक स्वप्न बनता जा रहा है। परन्तु शिक्षा की इस अवस्था में प्रेरणा गंवा दी जाती है, इच्छा शक्ति का गला दबाना पड़ता है, और फिर कौन जानता है कि भविष्य में क्या होने वाला है। अपने वर्तमान को दुःखी और संतप्त बनाकर भविष्य में आनन्द-लब्धि की आशा करना अनिश्चित पर विश्वास करने के बराबर होगा। कुछ लोग शिक्षा को मानव की छिपी शक्तियों के प्रकटीकरण का साधन भी मानते हैं। उनके मत से संसार का प्रत्येक

---

१. Adams—Evolution of Educational Theory.

प्राणी स्वयं ब्रह्म है। उसके अन्तर में श्रेष्ठतम प्रवृत्तियां और सद्गुण रहस्यात्मक रूप में भरे हैं, केवल उनकी परतें खोलने की आवश्यकता है। शिक्षा के माध्यम से वे लोग उसी 'गुप्त-विशिष्टता' तक पहुँचने की कल्पना करते हैं। उनका मन्तव्य है कि बाह्य-अनुभव या ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति उस रहस्य की प्राप्ति में सदैव असमर्थ है। एक मत शिक्षा को पुनर्निर्माण (Reconstruction) का साधन मानता है। उसके अनुसार बालक के मानस-तल में जीवन की सभी अवस्थाओं के आधार छिपे रहते हैं। इन्हीं नींवों के ऊपर शिक्षा को अपना भवन-निर्माण करना होता है। यही पुनर्निर्माण है। शिक्षा को मानस-रचना की प्रवृत्ति भी स्वीकार किया जाता है। ज्ञान-दान रूप में शिक्षा-सामग्री तथा उसके भिन्न समन्वय और सामञ्जस्य मानसिक संतुलन की स्थापना करते हैं। कई विचारक शिक्षा को पुरातन संस्कृति, धर्म, नीति और आदर्शों की पुनरावृत्ति (Recapitulation) तथा उनका पश्चाद्-दर्शन (Retrospection) प्रस्तुत करने वाला महत् साधन मानते हैं। ऐसे आदर्शवादी महानुभाव भी हैं, जो आत्म-सिद्धि के आधार-रूप में ही शिक्षा को देखते हैं। उनके मतानुसार मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों को सुशिक्षित बना देना ही वास्तविक शिक्षा है। ऐसा करने से मानव-मन संतुलित, व्यवस्थित और गम्भीर हो जाता है, जिससे मानव की सार्थकता प्रकट होती है और वह प्रत्येक क्षेत्र में योग्य पात्र बन सकता है। आन्तरिक शक्तियां इस प्रकार हैं—जानना, धारणा (Retaining), चिन्तन करना, समन्वय करना (Associating), ध्यान देना, इच्छा करना, चेतनता, कल्पना करना, विचारना आदि।[1]

परस्पर-सम्बन्ध

दर्शन तथा शिक्षा की अलग अलग व्याख्याओं से यह स्पष्ट हो चुका है कि इन दोनों का लक्ष्य एक ही है—जीवनोन्नति। दर्शन जीवन की महानता के लिए अपेक्षित आदर्शों का आयोजन करता है, और उस आयोजन की पूर्ति का साधन है शिक्षा। जिस प्रकार साधक स्वयं इष्ट बन जाता है, वैसे ही शिक्षा की अन्तिम स्थिति स्वयं आदर्श बनी रहती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शिक्षा रूपी साधनों को अपनाने वाले महानुभाव जब एक निश्चित सीमा लांघते हैं तो उनका विश्वास साधन में ही साध्य ढूंढने लगता है। तभी एक नई विचारधारा का जन्म होता है और पुनश्च उसके प्रचारार्थ एक नया क्षेत्र तैयार किया जाता है, जो शिक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। दर्शन लक्ष्य-निर्माण करता है और शिक्षा व्यावहारिक क्षेत्र में उस लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग बनाती है, दर्शन द्वारा प्रस्तुत किये सिद्धान्तों को क्रियात्मक

---

१. Based on John Dewey's Democracy and Education, Chapters V & VI.

स्वरूप प्रदान करती है। अतः निर्विवाद कहा जा सकता है कि शिक्षा दर्शन का ही परिवर्तनशील (Dynamic) व्यापार है।

शिक्षा और दर्शन दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक कार्य की पूर्ति, योजना और व्यवहार, दो भिन्न खण्डों पर आधारित है। योजना के बिना व्यवहार अटपटा और असम्भव सा होता है और व्यवहार के बिना योजना निरर्थक बकवाद। यही दशा दर्शन और शिक्षा की भी है। यहां दर्शन योजना पक्ष है। उसका काम है जीवन-लक्ष्यों को निर्धारित करना तथा विकास की चरम सीमा को भिन्न पहलुओं से देखना। तदुपरान्त शिक्षा (व्यावहारिक पक्ष) उन लक्ष्यों और विकासों का प्रत्यक्ष सफल अथवा असफल रूप प्रस्तुत करती है। लक्ष्य तथा उनका विश्लेषण, क्रियात्मकता के अभाव में निष्प्राण है। यही दशा दर्शन-विहीन शिक्षा की है। वह प्रस्तुत स्थिति में साकार या सगुण नहीं हो पाती; अतः सिद्ध है कि दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं।

पुनः दार्शनिक का कार्य विचार और विश्लेषण करना होता है। अनेक बार विश्लेषण करते हुए वह ऐसे परिणाम निकालने में सफल होता है कि वर्तमान स्थिति पर उसे क्षोभ होने लगता है। वह महसूस करता है कि पुरातन सिद्धान्तों का अध्ययन दूषित और आपत्तिजनक है। कभी वह पुरानी विधियों पर भी कुढ़ता है और अपने नवीन-विचारों द्वारा संसार की विधियों, पद्धतियों और सिद्धान्तों में क्रान्ति मचा देने का निश्चय करता है। उसका यही निश्चय शिक्षा-जगत् में उसके सिद्धान्तों का नव-व्यापार कहलाता है। यहां सैद्धान्तिकता व्यावहारिकता में बदल जाती है अर्थात् दर्शन शिक्षा को जन्म देता है। अपनी पारी में शिक्षा भी खुल खेलती है। उसका लक्ष्य रहता है उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार मानव का सर्वांगीण विकास। अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ लेकर वह कर्म क्षेत्र में अवतरित होती है और तथाकथित मानव के अन्तर का वास्तविक मानव जगाती हुई एक परिपक्व-प्रबुद्ध मूर्ति की स्थापना करती है। तदुपरान्त वह मानव-मूर्ति पुनः सिद्धान्तों के विचार-वीथि में विचरण करती हुई दार्शनिकता का उद्दीपन बन जाती है। इस प्रकार दर्शन से शिक्षा और शिक्षा से दर्शन की व्याप्ति एक ऐसे वृत्त की रचना करती है, जिसकी परिधि का कहीं अन्त नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि दर्शन और शिक्षा निश्चय ही अन्योन्याश्रित हैं।

इससे एक और बात स्पष्ट हो जाती है। सबकी शिक्षण-पद्धतियां निजी विचारों के अनुसार भिन्न होती हैं। इतिहास साक्षी है कि आज तक शिक्षा क्षेत्र में जो परिवर्तन देखने में आए हैं, वे केवल विचारधारा के कथित परिवर्तन के ही कारण। मनुष्य स्वभाव से ही दूसरे को स्वविचारानुयायी देखने का इच्छुक रहता है, और इसका एकमात्र ढंग है अपने विचारों का लिखित या भाषित रूप में दूसरे पर प्रभाव डालना। शासन-सम्पन्न व्यक्ति ऐसा करने में कभी पीछे रहता भी नहीं। देश के भिन्न

राजनैतिक दलों के नेता, महान् समाज-सुधारक, धर्म-प्रचारक या इसी प्रकार के अन्य महापुरुष इन्हीं दो तरीकों से जनता की आवाज, अपने पक्ष में प्राप्त करते हैं। सफलता मिलने की दशा में अनेक सिद्धान्त, उनकी विचारधारा, उनके आदर्श सम्पूर्ण प्रजा के भाग्य-विधाता बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार दार्शनिक भी अपने विचारों का निरावरण करता है। हम पीछे कह आये है कि एक के व्यक्तित्व द्वारा दूसरे के व्यक्तित्व पर किसी भी प्रकार का प्रभाव शिक्षा होता है। अतः उसकी यह अनावरण क्रिया संसार के लिये एक प्रभावशाली शिक्षा-प्रणाली बन जाती है। प्रत्येक प्रबल प्रचारक शिक्षा के विषय को भी बदल देने की क्षमता रखता है। जिस प्रकार शक्ति द्वारा एक नास्तिक शासक प्रजा को नास्तिकता का पाठ पढ़ा सकता है, वैसे ही बौद्धिक-शक्ति द्वारा एक विशिष्ट-तर्की पण्डित दूसरों को अपने पक्ष में कर सकता है, अपना विचारानुयायी बना सकता है। दार्शनिक भी ऐसी ही स्थिति का निर्माण करने के लिये विद्रोह खड़ा करता है—उसका विद्रोह शिष्ट और सुसंस्कृत होता है। वह लोगों को अपने सिद्धान्तों की सार्थकता समझाता है उनका गुण-दोष विश्लेषण करता हुआ सिद्ध करता है कि वर्तमान प्रथा में अमुक दोष हैं, उनका अमुक समाधान है आदि। तब कहीं जनता उसकी बात की महनीयता स्वीकार करती है, और उस दिन से वह दार्शनिक के साथ साथ शिक्षा-विचारक भी बन जाता है। वह अपने सिद्धान्तों का प्रचार करता है। पूर्व-प्रायोजित पद्धति में सुधार करता है और जन-नायक बनने की ओर सफलतापूर्वक कदम बढ़ाता है। यह सामान्य दशा लगभग सभी महान् दार्शनिकों या शिक्षा-शास्त्रियों की हुई थी। इसीलिये यह भी स्वीकार किया जाता है कि विश्व के सभी महान् शिक्षा-शास्त्री पहले दार्शनिक थे और फिर शिक्षक। सुकरात अपने विचारों का अध्यापन सड़क के किनारे कहीं भी खड़ा होकर करता था। उसकी विधि थी प्रश्न और प्रतिप्रश्न करना। इसी तरह वह अपने विचारों को दूसरों के मस्तिष्क में फूंकने का सफल प्रयत्न करता रहा। उसका शिष्य अफलातून अपने सिद्धान्तों का प्रचार गुरु के वार्तालापों के रूप में लिखित साहित्य प्रस्तुत करके करता है। उसके सांकेतित शिक्षा-लक्ष्य और विधियां निराली थीं। भारत के भी तत्कालीन सभी अरण्य-शिक्षक (गुरु) पहले दार्शनिक थे। वेद, वेदांग, उपनिषद्, शास्त्र, पुराण, अरण्यक, ब्राह्मण-ग्रंथ आदि की रचना करने वाले सभी ऋषि-मुनि दार्शनिक थे और निजी सिद्धान्तों और निष्कर्षों के अनुसार शिक्षा-प्रदाता भी। यही स्थिति आधुनिक युग के गांधी, टैगोर, फ्रोबिल तथा मॉण्टेसोरी की भी है। अतः दार्शनिकों तथा शिक्षा-शास्त्रियों का एकही ढर्रे पर कार्यशील होना यह सिद्ध करता है कि दर्शन और शिक्षा का निकटतम सम्बन्ध है।

जीवनादर्शों का सम्बन्ध शिक्षा के उद्देश्यों से स्वीकार किया जा चुका है।

जीवनादर्शों की आधारभित्ति दर्शन है, अर्थात् दर्शन ही जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। तत्पश्चात् शिक्षा के माध्यम से सांकेतित आदर्शों की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि दर्शन और शिक्षा, एक दूसरे के पूरक हैं।

जॉन ड्यूई शिक्षा को व्यावहारिक-दार्शनिकता (Practical Philosophy) तथा दर्शन को सैद्धान्तिक-शिक्षा (Theoretical Education) कह कर पुकारते हैं। अभिप्राय यह कि दोनों नदी के किनारों की भांति सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता की सीमा में बंधी अलग अलग क्रियायें हैं, जिस प्रकार नदी की धारा दोनों किनारों को जुदा होते हुए भी एक बनाये रहती है, वैसे ही दर्शन और शिक्षा के बीच बहने वाली विचारधारा दोनों की एक सूत्रता बनाए रखती है।

मानव-शरीर में मस्तिष्क विचारशक्ति का पोषक अंग है, शेष सभी अंग उसकी आज्ञानुसार व्यवहार करते हैं। दूसरे शब्दों में मस्तिष्क शरीर के अंग-संचालन हेतु निर्देशक का कार्य करता है। हम यों भी कह सकते हैं कि मस्तिष्क शरीर का विचार-पक्ष और अन्य सभी अङ्ग शरीर के व्यवहार-पक्ष हैं। ठीक इसी प्रकार दर्शन मानव-जीवन का विचार-पक्ष है और शिक्षा व्यवहार-पक्ष। जिस तरह बिना शरीर के अन्य अंगों की सहायता के मस्तिष्क की विचार शक्ति भी क्षीण हो जाती है, या इसके विपरीत बिना मस्तिष्क-निर्देशन के अन्य अंग कार्य नहीं कर पाते अथवा प्रमाद-युक्त कार्य करते हैं; वैसे ही शिक्षा के बिना दर्शन शिथिल पड़ जाता है और दर्शन के अभाव में शिक्षा निर्जीव-प्राय हो जाती है। सार यह कि दर्शन प्रकाश-पुंज है, मार्ग सुझाता है, तो शिक्षा वह मार्ग है जिस पर अग्रसर मनुष्य का गंतव्य मनुष्यत्व होता है।

शिक्षा के उद्देश्य

'शिक्षा' ऐसी क्रिया को कहा जाता है जिससे मनुष्य के अन्तर का मानव जागृत होता है। मनुष्य के सुप्त ज्ञान को उद्भूत करना और उसे नवीन परिस्थितियों को समझना तथा उनसे संघर्ष करने की क्षमता प्रदान करना शिक्षा का ही काम है। मानव सदा अपनी आवश्यकताओं की सहज पूर्ति की इच्छा रखता है और सामाजिक प्राणी होने के नाते, समाज में ही रहते हुए सुख-वैभव की योजनाएं बनाता और ढाता है। प्रायः अपनी योजनाओं को सफलीभूत होते देखना बहुत कम व्यक्तियों को नसीब होता है। कारण स्पष्ट है, वे अपनी योजनाओं में एक ही समय अनेक तुष्टिदायिनी आकांक्षाएँ भर लेते हैं और उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं एकांगी। एकांगी प्रयत्न तुष्टि तो दे सकते हैं, सर्वाङ्गीणता नहीं—अतः उन्हें योजना के अंश में सफलता मिलने पर भी दूसरे में मानसिक-वेदना का सामना करना पड़ता है। वास्तव में शरीर और मन के भोजन भिन्न-भिन्न होते हैं, लेकिन उनकी एकांगी शिक्षा इस अन्तर को समझने में असमर्थ रहती है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि शिक्षा के उद्देश्य भी दो ही क्षेत्रों में कार्यान्वित होने चाहियें—शारीरिक और मानसिक। ऐसा विधान होने से शिक्षा का महानतम उद्देश्य 'व्यक्तित्व के संतुलित एवं सर्वाङ्गीण विकास' में निहित होगा। जो शिक्षा प्रस्तुत उद्देश्य की पूर्ति करती हो, वही आदर्श, सम्यक् और उन्नतोन्नत कही जाएगी।

मनुष्य-जीवन में आटे-दाल की समस्या सृष्टि के निर्माण से आज तक सर दर्द बनी रही है। इस समस्या का समाधान मनुष्य में यथार्थों में 'सन्तोष' को जन्म दे सकता है, और आपका अपना ही कोई साधन इस आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ है। अतः यदि शिक्षा-क्षेत्र में व्यक्ति की विशिष्टता के अनुसार किसी न किसी व्यवसाय को स्थान दे दिया जाए, तो आटे-दाल की उपर्युक्त समस्या का एक स्वर्णिम हल मिल सकता है। हमारे विचार में ऐसा होना श्रेय भी है और प्रेय भी। प्रेय इस लिये कि मनुष्य शान्तिपूर्वक अपने व्यवसाय में कमाएगा और अपना तथा स्त्री-बच्चों का पेट पाल सकेगा। और श्रेय इसलिये कि शिक्षा को कला और शिल्प का एक ऐसा नूतन क्षेत्र मिल जाएगा, जिसकी आज अपेक्षा हो रही है और जिसकी उन्नति भारत की संस्कृति का उत्थान है। व्यावसायिक उद्देश्य के साथ-साथ, शारीरिक स्वास्थ्य और पुष्टि का उत्तरदायित्व भी हम शिक्षा पर ही छोड़ते हैं। हमारा मत है कि

शिक्षा केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही सीमित नहीं होनी चाहिये, व्यक्ति के संतुलित विकास के लिये स्वास्थ्य-पुष्टि का बनाए रखना भी शिक्षा का एक उत्तम उद्देश्य माना जाना चाहिए।

उपर्युक्त भूमिका से शिक्षा के उद्देश्य स्वयमेव दो भागों में बँट जाते हैं—शारीरिक और मानसिक। मनुष्य को मन-मस्तिष्क के सौख्य के लिये भी उसी प्रकार भोजन की आवश्यकता पड़ती है, जैसे शरीर के लिये। स्वीकार किया जा सकता है कि दोनों का भोजन भिन्न प्रकार का रहता है—मानस का भोजन बौद्धिक और शरीर का भोज्य-सामग्री। इससे पूर्व कि हम शिक्षा के उद्देश्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि उठाएँ, हमें देख लेना होगा कि 'उद्देश्य' होता क्या है। उद्देश्य किसी प्राकृतिक-क्रम के ऐसे परिणाम को कहते हैं, जो चेतनता के दृष्टिकोण से दैनिक कार्य-कलाप तथा वर्तमान्-क्रियाशीलता का निर्णायक बन सके। दूसरे शब्दों में उद्देश्य वह पूर्ति है, जो कार्य-व्यापार से पूर्व लक्ष की जाती है और जिसकी सफल प्राप्ति हमारे लिये लौकिक और अलौकिक आनन्द का सृजन करती है। प्रायः उद्देश्य स्थिर और अनिवार्य हुआ करते हैं। किसी बाह्य परिस्थिति से वे उद्वेलित नहीं होते, प्रत्युत ठोस पृष्ठभूमि पर आधारित रहकर परिवर्तन का सुदृढ़ विरोध करते हैं। कॉण्ट के शब्दों में वे नियत कर्तव्य (Categorical Imperative) हैं। उनकी पूर्ति ही जीवन की सार्थकता है। उद्देश्य एक हो या अनेक, व्यक्ति-विशेष का हो या क्रिया-विशेष का, परन्तु उसकी पूर्ति अनिवार्य ही है; उसी में व्यक्ति या क्रिया की सफलता है।

"शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य जीवन के आदर्शों की प्राप्ति तथा व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास पर आश्रित है।" इसी वाक्य को दृष्टिकोण बना हम 'जीवन के आदर्शों' तथा 'व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास' का अर्थ भी जान लें तो अनुचित न होगा। 'जीवन के आदर्श' से हमारा अभिप्राय उन महान् सद्‌गुणों की उपलब्धि से है, जो मनुष्य को देवत्व की कोटि तक पहुँचाते हैं। मानव-मन विचित्र रचना है। उसमें एक ही समय में जागृत होने वाला चेतना-प्रवाह अच्छाई और बुराई की लहरों के थपेड़े प्रस्तुत करता रहता है। आदर्श-जीवन उसी को कहा जा सकता है, जो उन बुराई की लहरों की टकराहट पर काबू पा सके और शान्त भाव से अच्छाई का विकास करने में संलग्न हो। ध्यान रहे जीवनादर्श निजी विचारधारा की स्थापना है। कभी भी विचार-परिवर्तन से उनमें परिवर्तन आ सकता है। पुनः विचारों में निजत्व निर्धारित होने के कारण आदर्शों में भी पृथकता हो सकती है—भौतिक, बौद्धिक, मानसिक, आध्यात्मिक सब प्रकार के आदर्शों का अस्तित्व सम्भव है। और शिक्षा इन सब प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है। दूसरे 'व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास' से तात्पर्य है, मनुष्य की आन्तरिक और बाह्य अभिव्यंजना की

सम्पूर्णता । वुड्वर्थ के मत में 'व्यक्तित्व' मनुष्य के शारीरिक और मानसिक व्यवहारों का संकलन होता है। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास में भी मनुष्य के व्यवहार ही की ओर ही संकेत किया गया है। यहाँ शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख भी इसी पृष्ठभूमि पर किया जाएगा।

प्रस्तुत अध्याय की भूमिका में इस बात पर पर्याप्त ज़ोर दिया गया है कि शिक्षा का एकांगीपन अर्थात् केवल मन-मस्तिष्क के लिये होना, वास्तव में एक अदण्डित अपराध है, जो जीवन की सम्पूर्णता पर कुठाराघात करना है। ज़रा सोचिये कि अस्वस्थ वातावरण में रहने वाला व्यक्ति क्या स्वयं कभी स्वस्थ रह सकता है—चाहे वह कितने ही बादाम क्यों न खाए और व्यायाम क्यों न करे? वही दशा मन या आत्मा की है, जिसका निवास-स्थान शरीर है। यदि शिक्षा केवल मन या आत्मा के उत्थान को ही अपना उद्देश्य बनाए रखे तो क्या शरीर की अस्वस्थता में पूर्वकथित स्थिति स्वस्थ रहेगी? नहीं! ऐसा होना असम्भव है, अतः शिक्षा को अपना महन् उद्देश्य पूरा करने के लिये पहले निम्न-अवस्था का (शरीर का) पोषण करना ही होगा। स्पष्ट है कि शिक्षा के उद्देश्यों का पहला क्षेत्र मानव का प्राकृतिक स्वास्थ्य है। शारीरिक-पुष्टि ही मानसिक-पुष्टि का द्योतक होती है।[1] अतः शारीरिक-स्वास्थ्य बनाए रखना शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है। लेकिन नहीं, शिक्षा के शारीरिक उद्देश्यों में स्वास्थ्य ही सब कुछ नहीं। स्वास्थ्य के भी पहले पेट पालने का गम्भीरतम् प्रश्न हमारे सम्मुख है। आटे-दाल की समस्या दिन-प्रतिदिन उलझती जा रही है। बेकारी बढ़ रही है। 'भूखों भजन न होहिं गोपाला' की कहावत चरितार्थ हो रही है। ऐसे में यदि शिक्षा कल्पना-लोक के स्वप्न हमारे सामने खोल बैठे, ऊँचे-ऊँचे उद्देश्यों की ओर निर्देश करे, तो क्या उनकी प्राप्ति सम्भव हो सकेगी? पेट को भोजन न मिलने पर मस्तिष्क का भोजन क्या हमें शान्ति दे सकेगा? नहीं, नहीं। पेट की आग बुझाने पर ही ज्ञान-ज्योति जलाई जा सकती है। अतः शिक्षा के शारीरिक उद्देश्यों में दूसरा और अति महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिये, आय प्राप्ति का साधन जुटाना। आर्थिक समस्या का हल मनुष्य को शत-प्रतिशत मानसिक-शान्ति प्रदान कर सकता है। और तब शान्त-चित्त व्यक्ति प्रत्येक आकर्षण की ओर बढ़ता है तथा शिक्षा को साधन बना उसके उद्देश्यों की पूर्ति लाभ करता है। तभी तो किसी प्रगतिवादी कवि ने पुकारा था—

> जब जेब में पैसा होता है, जब पेट में रोटी होती है,
> तब हर कतरा शबनम है, तब हर दाना मोती है।

---

१. A strong body hath a strong mind.

प्रश्न उठता है, शिक्षा कथित उद्देश्य की पूर्ति कैसे कर सकती है ? उत्तर सहज है, उद्योग सिखाकर । शिक्षा के लिये अनिवार्य है कि वह व्यक्ति को अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना सके । संसार की प्रत्येक क्रिया एक कला है, प्रत्येक रचना एक शिल्प है, प्रत्येक व्यापार एक व्यवसाय है और प्रत्येक प्रवृत्ति एक उद्योग है । यदि इनमें से शिक्षा अपने आलम्बन को एक का भी सहारा दे सके, तो वह इस विस्तृत संसार में भूखा नहीं मरेगा । कमाएगा, खायेगा, अपना तथा अपने स्त्री-बच्चों का पेट पालेगा । मन को संतुष्टि मिलेगी, शान्त-चित्त मनुष्य सद्गुणी प्रवृत्तियों में लग्न लगायेगा और शिक्षा के लिये अन्य उद्देश्यों की सफल उपलब्धि का मार्ग खोल देगा ।

शिक्षा के उद्देश्यों में दूसरी कोटि मानसिक ध्येयों की है, जिनका संकेत सामान्यतः मानव-जीवन के दोनों अवयवों—व्यक्तिगत तथा सामाजिक—की ओर बना रहता है । विभाजन के दृष्टिकोण से मानसिक आदर्शों को कई भागों में बाँटा जा सकता है, परन्तु प्रत्येक भाग व्यक्ति-विशेष और उसकी सामाजिक सीमाओं से तो सम्बन्धित होना ही चाहिये । अतः इनसे पूर्व कि हम शिक्षा के संकेतित उद्देश्यों की क्रमानुसार व्याख्या करें, **'व्यक्तिगत और सामाजिक'** का तात्पर्य स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त नहीं समझते । स्वीकार किया जा चुका है कि शिक्षा के उद्देश्य और जीवन के आदर्श एक ही लक्ष्य के दो पहलू हैं । अतः स्पष्ट ही मानव-जीवन में शिक्षा का प्रभाव उसके जीवनादर्शों का निर्माण करता है । परन्तु मनुष्य का जीवन अपने ही में कदापि केन्द्रित नहीं होता, वह सामाजिक प्राणी है । उसके जीवन का मुख्य पहलू सामाजिक है । वह जो कुछ भी बनता है, या बनना चाहता है, उसमें केवल व्यक्तिगत भाव ही नहीं, सामाजिक लक्ष्य भी छिपे रहते हैं । वह समाज की इकाई है इसी इकाई-इकाई की सहायता से समाज ने पनपना है । यदि इकाई में ही दोष-संचार होने लगे तो धीरे-धीरे समाज का ढाँचा भी विकृत हो सकता है । दूसरी ओर सम्पूर्ण समाज का अगर कोई विशिष्ट लक्ष्य न हो तो सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपनी-अपनी डफली बजाएँगे, किसी की भी तान का आनन्द कोई न उठा सकेगा, और इसी गड़बड़ी में समाज की अन्तर्निहित शक्ति शिथिल पड़ जाएगी । स्पष्ट है कि व्यक्ति समाज पर, और समाज व्यक्ति पर आश्रित है । और दोनों को सुव्यवस्थित तथा परिपुष्ट बनाए रखने के लिये शिक्षा के उद्देश्यों को स्वभावतः ही दोहरा कार्यक्षेत्र अपनाना पड़ता है ।

प्रत्येक समाज अपनी विशिष्ट संस्कृति तथा सभ्यता का पोषक होने के नाते अपना प्रतिनिधि आप होता है । साम्यता में समाजों का वर्गीकरण भी सम्भव है, परन्तु एकता में असम्भव से भी परे । शिक्षा एक सामाजिक क्रिया है, जो

समाज के प्रतिनिधि विचारों को व्यावहारिक रूप देती है। विचारक भी समाज का अंग होता है। वह समाज-विशेष में जन्मा, पला और परिपक्वावस्था में पदार्पित हुआ होता है। समाज के वायुमण्डल में उसने श्वास लिया होता है। समाज की विशेष परिस्थितियों से वह जूझा होता है, समाज की रीति-रिवाजों का उसने खण्डन या मण्डन किया होता है, समाज को जाना, पहचाना और तदनुसार व्यापार किया होता है—स्वाभाविक है कि विचारक के ऊपर समाज का अमिट अंकन हो और उसके विचारों की पृष्ठभूमि उसी समाज में पनपने वाले जीवन के कड़वे-मीठे घूँट हों। प्रस्तुत स्थिति में पैदा होने वाले विचार जब शिक्षा के क्षेत्र में अवतरित होंगे, तो वे या तो समाज के विरुद्ध विद्रोह की ज्वाला भड़काएँगे या उस संस्कृति-विशेष के भवन की प्राचीर को शक्ति-दान देंगे। यदि वे विचार विद्रोही हुए और जनता द्वारा उनका स्वागत भी हुआ तो शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य कुरीतियों को दूर करना, आधुनिकता प्राप्ति के लिए क्रान्ति करना, पुरातनता को ठोंक-पीट कर परिवर्तन करना आदि हो जायेगा। और यदि विचार पक्ष-वृद्धि करने वाले हुए, तो सनातन-पद्धतियों को बनाए रखना, प्राचीन-प्रणालियों की पूजा करना, संस्कृति का महत्त्वगान करना आदि शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य बन जाएँगे। आज के वर्ग-बद्ध समाजों में निजी विचारों का प्रचार-मात्र शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता है। संस्कृति, क्योंकि भौतिक, आर्थिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, कई प्रकार की हो सकती है, अतः शिक्षा भी उसी को लक्ष्य करने लगती है। उदाहरण के लिए डॉलर-देश अमेरिका की शिक्षा का उद्देश्य भी प्रयोजनवाद बन गया है। जिस वस्तु या जानकारी का उपयोग नहीं, उसे अपनाया क्यों जाए, आज की ऐसी अमेरीकी शिक्षा 'प्रैग्मैटिज्म' की मान्यता है। ध्यान रहे कि देश की राजनीति और उसके लक्ष्य भी सामाजिक-उद्देश्यों में ही सम्मिलित हैं। अतः प्रत्येक देश के सामाजिक और राजनैतिक वातावरण के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य बदलते हैं। संसार के भिन्न देशों के पूर्व इतिहास पर दृष्टिपात करके देखो, तो स्वप्रकट हो जाएगा कि जितने भी अधिनायकवादी देश हुए हैं, सबकी तत्कालीन शिक्षा का उद्देश्य युवक-युवतियों में सैनिक-रुचि पैदा करना था। यूनान की स्पार्टा जाति तो शिक्षा के भौतिक उद्देश्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ मानती ही न थी। उसके लिये स्वास्थ्य और सशक्त शरीर ही सर्वस्व था। ऐसा क्यों? क्योंकि उनके निवास-स्थान की राजनैतिक परिस्थितियों की ऐसी ही माँग थी। शत्रु से घिरा देश यदि अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये शक्ति-संचार न करे और अपनी सामाजिक शिक्षा के सम्पूर्ण साधनों को उसी ओर एकांगी-प्रवृत्ति प्रदान न करे तो उसके भविष्य की कल्पना सुगमतापूर्वक की जा सकती है। इससे सिद्ध है कि शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य जाति की सामाजिक और राजनैतिक माँगों

पर आश्रित रहते हैं ।

दूसरी ओर व्यक्तिगत उद्देश्य निजी-रुचि के द्योतक होते हैं । जिस प्रकार समाज की एक संस्कृति होती है, वैसे ही व्यक्ति-विशेष की संस्कृति भी रहती है । यह संस्कृति मनुष्य के निसर्ग-नियमों पर आधारित होती है । उदाहरण के लिये एक महाविद्यालय में अनेक छात्र रहते हैं । उन सबकी रुचियाँ भिन्न होती हैं । किसी का ध्येय अपने शरीर को पुष्ट बनाना होता है; वह प्रातः और सायं व्यायाम करता है । पुष्टि-वर्धक पदार्थ खाता है । व्याधिकारक वस्तुओं का परित्याग करता है । अपने व्यायाम-अध्यापक से भिन्न स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकों पर सम्मतियाँ माँगता है और पुस्तकालय में जाकर केवल इसी विषय पर पुस्तकों और पत्रिकाओं का अध्ययन करता है । ऐसे विद्यार्थी की संस्कृति को भौतिक-संस्कृति कहा जा सकता है । उसके लिये शिक्षा का व्यक्तिगत उद्देश्य भी भौतिक ही होगा । किसी अन्य छात्र का ध्येय योग्यता-वर्धन करना रहता है । वह अधिक से अधिक पुस्तकों का अध्ययन करता है । फालतू समय नष्ट नहीं करता । कालेज में सदा उपस्थित रहता है । पुस्तकालय में बैठकर अच्छे-अच्छे लेखकों की रचनाएँ और उच्च कोटि के पत्रों का पाठ करता है । अपने अध्यापकों से पुस्तकावलोकन पर सम्मतियाँ लेता है, लेख लिखता है, आलोचनाएँ करता है । ऐसे व्यक्ति की संस्कृति बौद्धिक होगी और उसके लिये शिक्षा का मात्र उद्देश्य बौद्धिक-विकास होगा । इसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि के अनुसार आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक संस्कृतियाँ रखने वाले व्यक्तियों के लिये शिक्षा के व्यक्तिगत उद्देश्य क्रमशः अर्थोपार्जन, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता होंगे ।

अब हम ऊपर छोड़े 'शिक्षा के उद्देश्यों' के मानसिक खण्ड का वर्णन करते हैं । इस का लक्ष्य मनुष्य की सम्पूर्ण शक्तियों का अनुरूप विकास । विद्यार्थीगण ध्यान दें कि इनमें प्रत्येक उद्देश्य उपर्युक्त सामाजिक या व्यक्तिगत उद्देश्यों का पहलू लिये हुए होगा ।

बौद्धिक-विकास—मनुष्य और जीवधारियों में सबसे बड़ा अन्तर 'विचारशीलता' का है । भगवान् ने मनुष्य को चिन्तन शक्ति दी है, वह अपना भला-बुरा पहचान सकता है । वह जीवनानुभवों से कुछ सीखता है, एक बार दूध से जलने पर वह छाछ को भी फूँक कर पीता है । परन्तु पशु में बुद्धि का आभास प्रतीत होते हुए भी सहज-सम्मति होती है, विवेक नहीं । कुत्ते को रोटी का टुकड़ा दिखाओ, पुचकारो, वह दुम हिलाता हुआ आ जाएगा । रोटी देने की बजाए यदि उसे मार दिया जाए, तो वह चीखता, चिल्लाता, भौंकता और सम्भव हमारे लिये अपरिचित भाषा में गाली देता हुआ भाग खड़ा होगा । यह उसकी सहज-सम्मति है, वह जान गया है कि वर्तमान स्थिति में उसे रोटी नहीं डण्डा मिलेगा, परन्तु कुछ क्षण यदि आप पुनः रोटी

दिखाकर पुचकारें, तो वह दुम हिलाता हुआ आपके पास तक आने में कभी घबराएगा नहीं। यदि उसमें विवेक होता, तो क्या वह दोबारा पिटने के लिये आपके समीप आता ? कभी नहीं। बाल-मानव की भी यही स्थिति होती है। उसमें भी सहज-भावना घर किये होती है, अतः वह भी कुत्ते की भाँति अपने को दण्ड देने वाले के द्वारा ही पुनः प्यार से बुलाये जाने पर, उसकी गोद में जाने से हिचकता नहीं। परन्तु उसमें गर्भित-विवेक (Potential Intellect) अवश्य होता है। शिक्षा वह माध्यम है जिसके द्वारा उसकी विवेकशीलता को उद्भूत, उद्दीप्त और विकसित किया जाता है। अतः सिद्ध है कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य का बौद्धिक-विकास है; अन्यथा मनुष्य, मानव होता हुआ भी पशु स्तर तक ही रह जाता।

मानव-मस्तिष्क में बुद्धि सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है, और उसकी जागृति तथा भरण-पोषण अनुभव तथा विचारशीलता पर अवलम्बित रहता है। अनुभव, जीवन की भिन्न घटनाओं से प्राप्त होता है, जबकि विचारशीलता शिक्षा के आश्रय पनपती है। अनुभवों की सार्वलौकिकता का ज्ञान पाने के लिये प्रयोग करने पड़ते हैं—जो कि पुनः शिक्षा के क्षेत्र की ही वस्तु है। जीवन में आने वाली अनेक समस्याओं का मात्र समाधान विचारशीलता और प्रयोग के द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। समस्या के तत्वों का अध्ययन करना, उसकी कठिनाइयों से संघर्ष करने का सामर्थ्य पैदा करना तथा सबसे अधिक उसके कारणों का निराकरण करना, मानव-विवेक के विषय हैं। यदि मनुष्य कभी भी इन तथ्यों की उपेक्षा करता है, या जानकर भी अनजान बनता है, तो उसका परिणाम पूर्व-नियोजित पतन ही होगा। कभी-कभी मनुष्य को समस्या के हल के लिये कई प्रकार के साधनों की परिकल्पना करनी पड़ती है। परन्तु क्या वह कल्पना उसकी उलझन दूर करने में समर्थ होती है ? नहीं, कदापि नहीं। ऐसा तब तक सम्भव नहीं, जब तक मनुष्य उस परिकल्पित-हल (Hypothetical End) को प्रयोग की कसौटी पर कसकर न देख ले। प्रयोग का आधार विधि होती है, जिसकी दायिता वास्तव में स्वयं शिक्षा है। अतः प्रत्यक्ष है कि शिक्षा का उद्देश्य मानव के अंतर में इतना विवेक भर देना रहता है, कि मनुष्य अपनी समस्याओं और परिस्थितियों से स्वयं निपटने के योग्य बन जाए।

संसार के सम्पन्न साहित्य की रचना बौद्धिक-विकास ही के कारण हुई है। ज्ञान-कोष का संचय यदि शिक्षा का उद्देश्य न होता, तो महान् संस्कृतियाँ, उन्नत सभ्यता तथा विश्व के भौतिक उपकरणों की प्रगति कभी न हो पाती। मानसिक और बौद्धिक विकास ने ही मनुष्य को सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में, ऊँचा उठाया है। मनुष्य ने संसार में सुखी रहने के लिए अनेक निमित्त रचे हैं। उसके मस्तिष्क ने जल-थल-वायु, सब पर अधिकार जमाने के लिये यन्त्रों की खोजें प्रस्तुत की हैं। तभी तो

आज सभ्यता की दौड़ में उसे भौतिक-सुख रूपी प्रथम पुरस्कार दिया जा रहा है। दूसरी ओर युगों से ललित कलाएँ मनुष्य को अलौकिक आनन्द प्रदान कर, मानसिक शान्ति का ग्राहक बना रही हैं। इन कलाओं के निर्माण का सामर्थ्य, शिक्षा की ही देन है। अतः प्रकट में बौद्धिक-विकास को लक्ष्य करती हुई शिक्षा, संस्कृति और सभ्यता के उत्थान, ललित-कलाओं की रचना और मानव की गर्भित शक्तियों को अनावरित करने आदि का सुपरिमार्जित कारण बन जाती है। इतना ही नहीं, मानव-जीवन के प्रत्येक आधार को बुद्धि की तुला पर तोलने की शक्ति देती है, मनुष्य को तर्क और नीति का संगी बनाती है, मन में अन्वेषण-वृत्ति को जन्म देती है और अज्ञान-तिमिर में विचार-शक्ति की ज्योति प्रदीप्त करती है।

मानसिक-वृत्तियों की शिक्षा (Training of Instincts)—मानव-मन में अनेक वृत्तियाँ सदैव संस्कार रूप में विद्यमान रहती हैं। कभी भी समय-कुसमय उचित आलम्बन पाकर वे वृत्तियाँ भड़क उठती हैं और प्रायः दूषित परिणामों का कारण बनती हैं। मैक्डूगॉल ने इन वृत्तियों की संख्या १४ मानी है, परन्तु सच यह है कि मनकी गहराइयों में भावनाएँ, संवेदनाएँ, अभिलाषाएँ, वृत्तियाँ, चेतनाएँ आदि अपरिमित परिमाण में निवसित हैं और कोई नहीं जानता कि उनकी सुषुप्ति और जागरण में कितना अन्तर है। विशेषकर मुख्य वृत्तियाँ निम्न हैं—१. पलायन वृत्ति, २. युयुत्सा, ३. शरणागति, ४. आत्म-गौरव, ५. कौतूहल या जिज्ञासा, ६. संग्राहकता, ७. भोजनान्वेषण, ८. सर्जनात्मक-वृत्ति, ९. हास, १०. काम-वृत्ति या यौनेच्छा, ११. शिशु-रक्षण या वात्सल्य-भावना, १२. सामूहिक-प्रवृत्ति, १३. निवृत्ति १४. दैन्यवृत्ति।

इनमें से भी यौन, भोजनान्वेषण, कौतूहल, पलायन तथा युयुत्सा की प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं। ये प्रवृत्तियाँ प्रायः साधारण-निमित्त और दूषित-आलम्बन पर भी भड़क उठती है। भड़की हुई प्रवृत्ति के अधिकार में आए हुये मनुष्य की बौद्धिक-शक्ति शिथिल पड़ जाती है। वह औचित्य-अनौचित्य में अन्तर नहीं कर पाता और प्रायः ऐसे कर्म कर बैठता है, जो राज्य और समाज की ओर से दण्डनीय होते हैं। परिणाम स्पष्ट है—व्यक्ति और समाज, दोनों पीड़ित होते हैं, दोनों को लांछन लगता है, दोनों एक दूसरे को कोसते हैं। मजे की बात तो यह है कि इन वृत्तियों को दबाया भी नहीं जा सकता। कभी-कभी हम अस्थायी रूप में किसी एक वृत्ति का मर्दन करने में सफल भी रहते हैं; परन्तु वास्तव में वह मर्दन वृत्ति का नहीं, अपितु आत्म-संयम का होता है। कुचली जाने पर वह वृत्ति घायल सिंहनी की तरह अधिक भयंकर हो उठती है। मानव अपने पर अधिकार नहीं रख पाता और किसी भी अनुचित क्षण में वह वृत्ति सभ्यता के आवरण में छिपी हमारी पशुता को नंगा कर देती है। हमारे अन्तर का पशु जाग उठता है। मानव, दानव बन जाता है। उसकी विचार-शक्ति पाशविक

आघात पाकर मूर्छित हो जाती है और वह ऐसा कर्म कर बैठता है कि सामान्य-स्थिति में जिसे देख कर वह स्वयं लजा जाए। परन्तु मनुष्य तब प्रतिकूल-स्थिति (Abnormal Condition) में होता है। क्षण भर के लिये उसका मस्तिष्क चेतना खो देता है और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग वृत्ति-विशेष के अधिकार में आकर संचलन करने लगते हैं। उदाहरणतः यौन-वृत्ति के भड़कने पर मनुष्य स्थानौचित्य और पात्रौचित्य की धारणा गँवाकर किसी भी विपरीत-जाति (Opposite Sex) के सदस्य से गुप्त-क्रियाएँ तक करने से पीछे नहीं हटता। सामान्य-स्थिति (Normal Condition) की पुनर्प्राप्ति पर वह चाहे अपने कर्म पर पश्चात्ताप भी करे, परन्तु उस समय उसके निजत्व पर भी उसका अपना अधिकार न था। क्रोध की वृत्ति के भड़कने पर मनुष्य अपने प्रियतम-पात्रों का वध तक कर डालने में भी संकोच नहीं करता। यही दशा शेष वृत्तियों के कारण प्रस्तुत हो सकती है। ध्यान रहे, ये सब प्रवृत्तियाँ प्रगल्भ होती है, दूध के उफ़ान की तरह तूफ़ान बनकर उठती हैं और शान्त होने तक मानव-मन पर एकाधिपत्य जमा लेती हैं। परन्तु इस अस्थायी मानसिक-तूफ़ान के घाव नासूर बन कर जीवन-भर बहते हैं, मानव को आयु-भर पछताना पड़ता है। इस प्रकार भड़की हुई वृत्ति को आवेग (Emotion) कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्षण-भर में इतनी हानि पहुँचाने वाली वृत्तियों को पराजित क्योंकर किया जाए? हम ऊपर कह चुके हैं कि वास्तव में ये वृत्तियां कुचली नहीं जा सकतीं। इनको कुचलने का उपक्रम वास्तव में अपने संयम पर कुठाराघात होगा। इन वृत्तियों का अन्त नहीं किया जाता, केवल प्रतिबन्धन (Inhibition) और शोधन (Sublimation) ही इनसे छुटकारा-प्राप्ति के मात्र-साधन हैं। प्रतिबन्धन द्वारा आप समय-समय पर वृत्ति की माँग को टाल सकते हैं। बहुत सम्भव है कि बार-बार टलने और और अप्रयुक्त होने के कारण वृत्ति दब जाए या उसका अन्त ही हो जाए। शोधन, प्रतिबन्धन से भी बढ़कर सुष्ठु ढंग है। शोधन से प्रवृत्ति की विस्फोटक शक्ति का नाश नहीं करना पड़ता, प्रत्युत उसे किसी अन्य संशोधन के प्रयोग में लाया जाता है। ऐसा करने से अतिसुन्दर और स्थायी प्रभावशाली कलाओं का जन्म होता है। उदाहरण के लिये कामातुर व्यक्ति अपनी यौन-वृत्ति का शोधन कलाकार बनकर कर सकता है। कलाकार के रूप में वह सुन्दर से सुन्दर स्त्रियों का चित्र बना सकता है और अपनी नग्नता को पर्दे में वासना-तुष्टि का साधन भी जुटा सकता है। उसके वे चित्र, चाहे वासना-वृत्ति के प्रभाव से ही क्यों न बने हों, कला की महान् कृतियाँ बन जाते हैं। व्यक्ति संगीत की ओर अपनी रुचि बढ़ा सकता है, या किसी भी अन्य कार्य में अपने को व्यस्त रखकर संवेग या आवेग की चोट से बच सकता है। परन्तु यह सब कब संभव होगा? केवल तभी जब मनुष्य को इसके लिये विशिष्ट शिक्षा दी जाए। शिक्षा

ने बौद्धिक-विकास को केवल इसी लिये लक्ष्य बनाया था कि मनुष्य की पशुता का अन्त कर उसमें शिष्टता और सभ्यता भरी जा सके। परन्तु उपर्युक्त व्याख्या से प्रत्यक्ष हो चुका है कि मनुष्य की सभ्यता पर भी कभी पर्दा डालकर उसे पुनः पशु बनाने का सामर्थ्य मानसिक-वृत्तियों में है। अतः शिक्षा के प्रस्तुत उद्देश्य की आवश्यकता का साक्षात्कार होने में कोई बाधा नहीं। मनुष्य को सदा मनुष्य ही बनाए रखने के लिये शिक्षा उसकी कथित वृत्तियों का शोधन करने को भी लक्ष्य बनाती है। विचारशील और विवेकवान् व्यक्ति ही प्रतिबन्धन और शोधन की क्रियाओं को समझ सकता है, और अपना मार्ग-निर्देशन शिक्षा के संकेतों पर स्वयं कर सकता है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि शिक्षा के प्रस्तुत दोनों उद्देश्य—बौद्धिक-विकास तथा मानसिक-वृत्तियों की शिक्षा—साथ-साथ चलते हैं।

धार्मिक-चेतना—बुद्धि, तर्क और विवाद को जन्म देने वाली वृत्ति है। इसके राज्य में अनुराग और विराग, दोनों तर्क के मान-दण्ड पर परखे जाते हैं। सात्त्विकता और तामसिकता में से किसी एक का पक्षपात नहीं किया जाता, समयानुकूल तर्कानुसार जो भी लाभदायक दिखे, वही उचित है, ग्राह्य है। बुद्धिवादी 'क्यों, क्या और कैसे' के आश्रय जीता है। उसका मस्तिष्क सदैव तर्कजाल की उलझनों को सुलझाने के प्रयत्न में और उलझता चला जाता है। तार्किक दृष्टिकोण होने के कारण यह अपने चहुँ ओर प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति या स्थिति को सन्देह या शंका की नज़र से देखता है, और धीरे-धीरे यह विवेकशील की बजाए, सन्देहशील बन जाता है। हम यह नहीं कहते कि बुद्धिवादी बुरा है, हमारा संकेत उसके एकांगीपन पर है। मनुष्य के लिये विचार और तर्क अनिवार्य शक्तियाँ हैं, जो उसकी अनेकानेक समस्याओं को सुलझाती है, उसके लिये उन्नति का क्षेत्र तैयार करती हैं, आदि। परन्तु केवल बुद्धि, जिसमें विश्वास और श्रद्धा का कोई अंश न हो, मानव को मानसिक शान्ति नहीं दे सकती, उसके जीवन की शुष्कता में सरसता का संचार नहीं कर सकती। अतः स्वप्रमाणित है कि जीवन में बुद्धि के साथ श्रद्धा और विश्वास का भी उतना ही ऊँचा स्थान है। इसके अभाव में मानव-जीवन के संतुलन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

परन्तु हम ऊपर लिख आए है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य 'जीवन को संतुलित बनाए रखना' है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि श्रद्धा और विश्वास की चेतनाओं के बिना जीवन एकांगी हो जाता है। अस्तु, जीवन को सर्वांगीण बनाने तथा मानसिक-संतुलन की स्थापना करने हेतु शिक्षा बौद्धिक-विकास पर लक्ष्य करने के साथ ही श्रद्धा और विश्वास के अध्यापन को भी अपना उद्देश्य बना लेती है। ये दोनों धार्मिक-जगत के गुण हैं। इनके कारण मनुष्य किसी पराभौतिक या पराप्राकृतिक शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार

कर लेता है। वहाँ बुद्धि और तर्क से उसकी वास्तविकता या विशेषता पर वाद-विवाद नहीं करता, बस उसके सामने निरीह की भाँति सिर झुका देता है। जीवन में आने वाली अनेक विपत्तियों से पीड़ित, विवशता और क्षीणता से व्यथित, वह, जब तर्क को अपनी सहायता में असमर्थ पाता है, तो अपने मानस को शाँति देने के लिये मुसीबत का सारा बोझ एक काल्पनिक विचार पर फेंक देता है। वही विश्वास है, वही श्रद्धा है। वह सोच लेता है कि अमुक विपत्ति उसके परारब्ध का अचूक फल है। इससे उसके हृदय को शान्ति मिलती है—इसमें हमें कोई विवाद नहीं कि शान्ति सच्ची होती है कि झूठी। इतना तो तथ्य ही है कि यदि यहाँ श्रद्धावान् होकर वह अपनी मुसीबत को अपने विश्वस्त-इष्ट का प्रसाद मानकर प्रसन्नता पूर्वक सहन करने को कटिवद्ध न होता तो निश्चय ही वह मानसिक संतुलन खो देता और किसी पागलखाने की चारदीवारी से टक्करें मारता होता। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य के अन्तर में जागृत धार्मिक चेतना ही उसकी सहायक होती है, उसी का दूसरा नाम विश्वास या श्रद्धा है। मनुष्य किसी को अपने जीवन-रथ का सारथी बना लेता है और उसी के सहारे अपने को छोड़कर निश्चिन्त-मन से जीवन-यात्रा करता है, शोक और हर्ष दोनों का हँसते हुए स्वागत करता है, और फिर भी अपने इष्ट के गुण-गाता हुआ सन्मार्ग की ओर ही कदम बढ़ाता है। अतः धार्मिक चेतना को शिक्षा के उद्देश्य रूप में दिखाने के लिये उसकी आवश्यकता पर हमें और जोर देने की जरूरत नहीं। सार यह कि धार्मिक-चेतना मानव में विश्वास भरती है। जहाँ उसका तर्क असफल रहता है, जीवन में विपत्ति पड़ती है या वह मानसिक संतुलन खोने लगता है, वहाँ विश्वास उसकी सहायता करता है। उसको सहन-शक्ति प्रदान करता है और बिना रोए-चिल्लाए चार दिन की मुसीबत शान्ति से कट जाती है, अन्यथा परिणाम भयंकर हो सकता है। मानव-जीवन बुद्धि और श्रद्धा का संगम होना चाहिए, इसी में उसका कल्याण है। इस क्षेत्र में शिक्षा को उसकी सहायक बनना अनिवार्य है।

नैतिक-उत्थान—नीति के अनुकूल सब बातों को नैतिक कहा जाता है। मनुष्य की क्रियाओं और सिद्धान्तों को यदि उचित और अनुचित के वर्गीकरण में रखा जाए तो व्यक्तित्व की रेखा (Personality Trait) पर उसे कहीं न कहीं अवश्य स्थान मिलेगा। औचित्य की अधिकता हो तो मनुष्य के कर्म नैतिक कहलाएंगे, अन्यथा इसके विपरीत। भारतीय-पद्धति के अनुसार यह औचित्य दो मुख्य रूपों में स्वीकार किया जाता है—कर्तव्य तथा सद्गुण (Duty and Virtue)। दोनों आधारों पर आश्रित कर्म उचित होगा, परन्तु दोनों के औचित्य में अन्तर है। कर्तव्य की अपेक्षा सद्गुण औचित्य के अधिक समीप है। सच पूछो तो सद्गुण कर्तव्य की ही उन्नत दशा का नाम है। यदि नैतिकता की दो अवस्थाएं स्वीकार

करें—एक निम्न और एक उच्च—तो पहली अवस्था कर्तव्य और दूसरी सद्गुण कहलाएगी। उदाहरण के लिए 'चोरी न करना' नीति अनुकूल बात है, अतः नैतिक या उचित है। कल्पना कीजिए, इस विशेषता को अपनाने वाले दो व्यक्ति हैं। इन दोनों में से एक तो कानून के विरुद्ध कर्म होने के कारण चोरी नहीं करता। वह डरता है कि यदि वह चोरी करेगा तो पकड़ा जायगा और दण्ड पाएगा। उसके अन्तर में दूसरे की वस्तु के लिये कभी लालच के भाव जगते जरूर हैं, परन्तु वह जेल-यात्रा के भय से उसे दबा देता है। दूसरा भी चोरी नहीं करता, क्योंकि उसके दिल में कभी चोरी का विचार जगा ही नहीं। उसने कभी सोचा ही नहीं कि दूसरे की वस्तु उसकी अपनी भी बन सकती है। अब निर्णय कीजिए कि दोनों में से कौन भला होगा। दूसरे व्यक्ति को अधिक भला कहने में कभी दो मत नहीं हो सकते। यहाँ पहला व्यक्ति कर्तव्यशील है। वह चोरी से दूर रह कर नीति-संगत और औचित्ययुक्त कार्य करता है, अतः वह कर्तव्य को समझता है और सफलता-पूर्वक उसकी पालना भी करता है। दूसरे का कर्म भी नीति और औचित्य की सीमा में सम्बद्ध है, परन्तु उसमें एक और विशेषता है, वह है मानस की शुद्धि। इस कोटि के व्यक्ति को सच्चे अर्थों में नैतिक कहा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि कर्तव्य को सद्गुण क्योंकर बनाया जा सकता है। प्रा० कलन का कहना है कि कर्तव्य की बार-बार पालना ही सद्गुण का निर्माण करती है। मनुष्य किसी आन्तरिक प्रेरणा या भय से कर्तव्य पालता है परन्तु धीरे धीरे ऐसा करना उसके रक्त में आदत बन कर सम्मिलित हो जाता है। यही आदत सद्गुण कहलाती है। ऐसी आदतों के विकास का श्रेय शिक्षा को है, जो इसके वास्तविक मूल 'कर्तव्यपालन' पर प्रायः जोर देती रहती है। अतः निर्विवाद कहा जा सकता है कि जीवन में जो स्थान औचित्य का है (उसका निर्णय बौद्धिक-विकास में हो चुका है), वही शिक्षा के उद्देश्यों में नैतिक-उत्थान का।

इन सद्व्यवहारों के विकास को लक्षित करते हुए श्री ऐडलर लिखते हैं कि शिक्षा ऐसा साधन है, जिसके द्वारा मानव के ग्राह्य-गुणों (योग्यताओं अथवा सद्प्रेरणाओं) को आदत के रूप में अपना लिया जाता है। इस लक्ष्य (अर्थात् अच्छी आदतों को ग्रहण करना) की प्राप्ति अपने या दूसरे के गम्भीर और कलात्मक उपायों द्वारा सम्भव होती है।[1] शिक्षा की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि अच्छी आदतों का निर्माण

---

१. Education is the process by which those powers (abilities, capacities) of men that are susceptible to habituation are perfected by good habits, through means artistically contrived employed by any man to help another or himself to achieve the end in view.—
Adler,—41st Year-Book. P. 209.

(दूसरे शब्दों में नैतिक-उत्थान) भी शिक्षा का एक प्रधान-उद्देश्य है, और लक्ष्य के रूप में यह सबके लिये समान होना ही चाहिए। इसकी पुष्टि में विद्वान् लेखक ऐंडलर ने एक मध्यपदी-अनुमान (Syllogism) भी प्रस्तुत किया है।

प्रधानाधार : अच्छी आदतें (सद्गुण) सब आदमियों के लिये समान हैं।

गौणाधार : शिक्षा को अच्छी आदतों के विकास को लक्ष्य बनाना चाहिए।

निष्कर्ष : शिक्षा को सब आदमियों के लिये समान लक्ष्य बनाना चाहिए। (या, संकेतित निष्कर्ष निकलेगा—शिक्षा का लक्ष्य सब आदमियों के लिये समान होना चाहिए)।

आध्यात्मिक-चेतना—ऊपर स्वीकार किया जा चुका है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में मात्र-बुद्धि मानव की समास्याओं को सुलझाने की अपेक्षा उलझाने की ओर अधिक प्रवृत्त होती है। अतः संतुलन बनाए रखने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धि और श्रद्धा दोनों मिलकर मानव-जीवन को पूर्ण करती हैं, और वह नैतिकता के स्तर पर कर्तव्यपालन से भी ऊपर उठकर वास्तविक शान्ति या आत्मानन्द की खोज करने लगता है। जिस श्रद्धा या विश्वास ने उसमें धार्मिक-भावना का प्रस्फुटन किया था, वे ही उसकी आध्यात्मिक भूख की तुष्टि के लिये करवट बदलते हैं। मानव अपने जीवन में कुछ ऐसे क्षण भी अपेक्षित समझता है, जिसमें उसे अपना श्रद्धेय इष्ट का गुणगान करने, उसके प्रति प्रेम प्रकट करने या अपना आप उसके चरणों में समर्पित करने का सुअवसर मिल सके। ये क्षण मानव-जीवन के अमूल्य क्षण होंगे, बल्कि यों कहिये कि मानव-मन की गहराइयों में छिपी कोमलता और स्निग्धता का सोता फूट पड़ेगा। इन क्षणों में, और मनुष्य के अन्तर का पशु मर ही जाएगा। मानव जीवित होगा। उसमें करुणा, दया, सहानुभूति, विश्व-प्रेम और अखिल-भ्रातृत्व सरीखे आध्यात्मिक गुण पनप उठेंगे और वह सच्ची-वीरता का अधिकारी बन सकेगा। हमारे विचार में व्यक्ति की प्रस्तुत धारणाओं को जगाना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। वह शिक्षा अधूरी होगी, जो मनुष्य के शरीर और मन को तो भोजन पहुँचा सके, पर आत्मा की भूख की उपेक्षा कर दे। आज पाश्चात्य विद्वानों का मत इसके विपरीत हो सकता है, क्योंकि उन्होंने भौतिक-जगत् के उपकरणों का विकास ही अपना ध्येय बना रखा है, परन्तु भारतीय संस्कृति अपने वैदिक-कालीन शैक्षणिक-लक्ष्य 'उच्चतम-ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) की प्राप्ति' तथा उनकी प्राप्ति के साधनों 'तप और योग' का बहिष्कार कदापि नहीं कर सकती। ज़रा और गम्भीर दृष्टिकोण से देखा जाए तो वास्तव में पाश्चात्य शिक्षा भी प्रस्तुत उद्देश्य से विरक्त नहीं। पश्चिम का प्रत्येक स्कूल धार्मिक शिक्षा देता है, और वहीं से बच्चों के मन में धर्म के लिये अखण्ड-विश्वास बिठा दिया जाता है। इसी विश्वास

के आश्रय ये विद्यार्थी बड़े होकर दार्शनिक-वृत्ति मानसिक शान्ति लाभ करते हैं। आध्यात्मिकता के प्रचारक ईसा-मसीह के अनुयायी आध्यात्मिकता को ही अपनी जीवन-आवश्यकताओं की सूची से निकाल दें—यह असम्भव है। भारतीय शिक्षा तो पहले से ही इस उद्देश्य की सार्थकता स्वीकार करती है। शिक्षा के लौकिक लक्ष्यों के क्षणिक आनन्द से ऊबकर मनुष्य अलौकिक और स्थायी-भित्ति की याचना करता है, और यदि शिक्षा उसकी इस याचना को पूरी न कर पाए तो वह जीवन-निर्माण का साधन क्यों कर कही जायगी। (ध्यान रहे कि शिक्षा से हमारा अभिप्राय स्कूल या कॉलिज की चारदीवारी में दी जाने वाली शिक्षा कभी नहीं, हम पहले ही स्वीकार कर चुके हैं कि किसी भी क्षेत्र में शिक्षा एक व्यक्ति के सुधारार्थ उस पर दूसरे व्यक्तित्व के सर्वांगीण प्रभाव को कहते हैं।)

सौन्दर्य की परख— लोग कहते हैं, पसन्द अपनी अपनी। उनके विचार में पसन्द का मानदण्ड निजी ही होना चाहिये। ठीक भी तो है, 'लैला को मजनूँ की आँख से देख'। संसार के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही वस्तुओं में सौन्दर्य दिखाई पड़ना, या अपनी ही रुचि का पसन्द आना स्वाभाविक ही है। परन्तु ये सब निम्न स्तर की बातें हैं, जन-साधारण के आधार हैं और लौकिक पदार्थों तक की सीमा में सम्बद्ध स्थिति है। दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो सौन्दर्य एक विशेषता है, जिसकी भिन्न स्थितियाँ (Stages) रहती हैं। प्रत्येक स्थिति विशेषता के नाते सबको आकर्षित करती है—किसी को अधिक, किसी को कम। मनुष्य जितना अधिक सहृदयी होगा, उतना ही सुन्दरता की ओर खिंचेगा भी। अतः शिक्षा का लक्ष्य मानव को सहृदयी बनाना भी होना चाहिए, ताकि वह कला का सच्चा पारखी बन सके। हमें स्वीकार है कि मनुष्य जब तक प्रत्येक कला का अध्ययन न करे, तब तक वह परख नहीं कर सकता। परन्तु पाठक यह न भूलें कि संगीत के नाम से निरक्षर भी किसी मादक तान पर सिर हिलाने लगते हैं, काला अक्षर भैंस बराबर वाले कविता की लय में बह जाते हैं। उन्हें गीत या कविता के अर्थ समझ नहीं आते, तो भी वे उनकी लय और तान में सौन्दर्य खोज निकालते हैं। पढ़े-लिखे उनके अर्थों और भावों में वास्तविकता ढूंढते हैं। अभिप्राय यह कि कला, अर्थात् सौन्दर्यवान् पदार्थ या क्रिया में सुन्दरता सबके लिये होती है; कोई किसी चश्मे से खोजता है, और कोई किसी दृष्टिकोण से ढूंढता है। सहृदयता इसका मापदण्ड बनती है। 'सौन्दर्य की परख' को जब हम शिक्षा का उद्देश्य बताते हैं, तो उसका प्रकट संकेत उस चक्षु के खोलने में होता है, जो मानव को किसी भी वस्तु, व्यक्ति या क्रिया के बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य को देखने का सामर्थ्य दे सके। शिक्षा यदि मनुष्य में ऐसी शक्ति पैदा कर सके, तो यथार्थतः वह सम्पूर्ण शिक्षा कहलाएगी। पुनः, विश्व का प्रत्येक प्राणी सौन्दर्य-प्रिय

जीव है। उसे हर वस्तु में सुन्दरता देखने की इच्छा होती है। इच्छा-पूर्ति आनन्द की प्रतीक है। आनन्द दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक आनन्द अस्थायी और अलौकिक स्थायी होता है। जहाँ पर जितनी भी उच्च कोटि का सौन्दर्य होगा, उतना ही स्थायी आनन्द मिलेगा। क्योंकि मानव-मात्र अपनी सम्पूर्ण प्रकृति अनुभूतियों में स्थायित्व चाहता है, अतः उन्हें सौन्दर्य की उच्च अवस्थाओं का ज्ञान होना अनिवार्य ही है, और इसकी देन शिक्षा का क्षेत्र है।

शिक्षा के उपर्युक्त प्रधान और विशिष्ट उद्देश्यों के अतिरिक्त कुछ सामान्य उद्देश्य भी अपेक्षित हैं।

नागरिक के कर्तव्य—शिक्षा इस योग्य होनी ही चाहिये कि वह मनुष्य को नागरिकता सिखा सके। पढ़-लिखकर भी यदि मनुष्य में सच्चे नागरिक के गुण न आ पाएं तो निश्चय ही इसमें उसकी शिक्षा का दोष माना जाएगा। ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि शिक्षा के साथ उसके अनिवार्य अंग वातावरण का अभाव रहा है, अर्थात् अपूर्ण शिक्षा दी गई है। किताबी शिक्षा किसी को भी परीक्षा में सफल होने की योग्यता प्रदान कर सकती है, लेकिन संसार की दृष्टि में मनुष्य तभी ऊँचा उठ सकता है, जब वह नागरिकता का सत्याध्ययन कर समाज का नेतृत्व कर सके; व्यक्ति, परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र तथा मानव-मात्र के प्रति अपने भिन्न कर्तव्यों को पहचान सके तथा अपने में सार्वलौकिक, सर्वविदित गुणों का विकास करे। परस्पर-सहयोग, सहायता, प्रेम, भ्रातृभाव, सेवा, नियन्त्रण आदि ऐसे गुण हैं, जो 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त (नागरिकता का प्रमुख तथ्य) को सजीव करते हैं। इसी एक मात्र निष्कर्ष से शिक्षा के प्रस्तुत उद्देश्य की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। ध्यान रहे, प्रायः शिक्षा ऐसा करने में असफल ही रहती है, क्योंकि आधुनिक युग की पद्धति केवल पाठ्यक्रम तक ही सीमित है। विद्यार्थियों में पाठ्य-क्रमेतर गति-विधियों (Extra-curricular Activities) के प्रति रुचि नहीं पैदा की जाती। अतः वे प्रायः स्कूल को एक ऐसी संस्था समझने लगते हैं, जहाँ ज्ञान बिकता हो और वहाँ के अध्यापकों को सूचना-सम्पादक मान लिया जाता है। विद्यार्थियों और अध्यापकों का मिलाप इतना गम्भीर कभी नहीं होता कि वे अपने को एक नूतन समाज के सदस्य समझ कर, उसके प्रति कृत-कर्तव्य हो सकें। छात्र परस्पर भी इतना निकट सम्बन्ध कभी नहीं रख पाते कि उनमें प्रेम बढ़े। अपने वर्ग में कहीं किसी साधारण कठिनाई के आ पड़ने से बहुत होगा, तो वे लड़ लेंगे, घृणा और द्वेष जागृत होगा, परन्तु सहयोग नाम की किसी वस्तु का उत्पादन प्रायः असम्भव ही दिखेगा। ऐसे में शिक्षा का यह परम लक्ष्य होना चाहिये कि वह छात्र-छात्राओं को निजी कर्तव्यों के पह-चानने की शक्ति देने के साथ-साथ उपर्युक्त गुणों के विकास का सामर्थ्य दे, ताकि

वे लोग देश के सफल नागरिक बनें। पाठ्य-क्रमेतर गतिविधियाँ इस क्षेत्र की एक-मात्र सहायक बन सकती हैं।

दैनिक व्यवहार—इसकी नींव 'नागरिक के कर्तव्यों' में ही रखी जा चुकी है, परन्तु पृथक् अस्तित्व का विशेष महत्त्व होने के कारण इसके जुदे स्वरूप के दर्शन भी हम अपने पाठकों को करवा देना चाहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि हम दैनिक-व्यवहार के लिए शिक्षा की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते। सोच लेते हैं कि यह क्रिया वातावरण और स्वभाव पर आधारित है। ज्यों ज्यों मनुष्य एक वातावरण में पनपता है, त्यों-त्यों वह विशिष्ट व्यवहार का आदी बन जाता है। वह कोई ऐसी कला नहीं जिसकी पृथक शिक्षा के केन्द्र खुलने अपेक्षित हैं, या जो दैनिक अभ्यास से सीखी जा सकती है। हम इन विचारों से सहमत नहीं। हमारे मत में दैनिक-व्यवहार के ढंग सिखाना भी शिक्षा का ही क्षेत्र है। कारण स्पष्ट है, यदि मान लें कि यह क्रिया वातावरण की देन है, तो क्या वातावरण दूषित होने से व्यवहार त्रुटिपूर्ण न हो जाएगा? अतः वातावरण को विशुद्ध और ग्राह्य बनाए रखने के लिए शिक्षा ही तो कर्मशील होगी। यदि 'अति' को छोड़ दिया जाए, तो भी दैनिक-व्यवहार आज तीन रूपों में देखने को मिल सकता है। १. सबके साथ मीठा बोलना, प्यार से रहना, दूसरे की साधारण ग़लतियों की उपेक्षा कर देना तथा मेल जोल बढ़ाना। २. सबको काटने को दौड़ना, प्रत्येक बात में दुष्टता का दाँत रखना और घृणा तथा उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाना। ३. इन दोनों के बीच का मध्यम व्यवहार। समय और स्थिति को विचारते हुए आवश्यकतानुसार प्रशंसा और गाली का आधार लेना। दिल में किसी के लिए खुटाई न रखना, मुँह से कटु शब्द भी कह देना, इत्यादि। आधुनिक युग के इन तीनों प्रकार के स्वाभाविक व्यवहारों में योग्य निर्वाचन प्रस्तुत करना और दुष्टता का परित्याग कर मानवोचित गुणों को अपनाना, शिक्षा की ही क्षेत्रीय प्रेरणाएँ हैं। अंग्रेजी की एक पुरानी कहावत है कि 'तुम जो कहते हो' उसका इतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना 'तुम कैसे कहते हो' का। अभिप्राय यह कि दैनिक-व्यवहार के यदि एक अंग 'बातचीत' या वार्तालाप को ही पैनी दृष्टि से देखा जाए, तो स्पष्ट होगा कि मनुष्य के जीवन की सफलता-असफलता का पूर्ण रहस्य इसी में छिपा है। दैनिक-व्यवहार की उचित शिक्षा ही हमें आयु, पद और अधिकार का परीक्षण करते हुए सम्मान और आदर की आवश्यकता का ज्ञान देती है। वास्तव में तू, तुम और आप का अन्तर सिखाना शिक्षा का ही काम है, तभी जन-साधारण सफल व्यावहारिक जीवन बिता सकते हैं। अतः सिद्ध है कि शिक्षा के प्रस्तुत उद्देश्य की सार्थकता उपेक्षणीय कदापि नहीं हो सकती।

परिश्रम और मनोरंजन—मनुष्य पेट भरने या किसी अन्य वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए परिश्रम करता है। इससे धीरे-धीरे उसकी आन्तरिक संचित शक्ति का ह्रास होता रहता है। शक्ति का ह्रास थकावट का कारण बनता है, तथा मनुष्य के अन्दर स्वयमेव कार्य-क्षमता घटने लगती है। प्रस्तुत घाटे को पूरा करने के लिए विश्राम और मनोरंजन की शरण अपनाता है। मनोरंजन विश्राम की अपेक्षा जल्दी घाटा पूरा करता है। क्योंकि विश्राम करने से संचित शक्ति का क्षय उतने समय तक रुक जाता है, परन्तु यह कोई ऐसा पौष्टिक-पदार्थ नहीं, जो शक्ति का पुनर्विकास कर सके। अतः परिश्रम के विपरीतार्थ में हमें विश्राम की अपेक्षा मनोरंजन अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। परिश्रम करने से मानवीय रक्त के जो सेल (Cell) टूटते या शिथिल पड़ते हैं, उनकी मरम्मत तथा पुष्टि का आधार मनोरंजन ही है। मनोरंजन में विश्राम तो मिला ही रहता है। यही कारण है कि मानव-जीवन को संतुलित, स्वस्थ और सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए परिश्रम के साथ मनोरंजन-समावेश उतना ही आवश्यक है, जितना उपरिसांकेतित वृत्तियों की तुष्टि के लिए परिश्रम।

परन्तु साधारणतः मनुष्य इन दोनों क्षेत्रों में गलत रास्ता अपनाता है। अनियमित रूप से परिश्रम किया जाता है और असीम मनोरंजन की माँग होती है। परिणाम यह होता है कि एक ओर स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है और दूसरी ओर बुरी आदतों का विकास होता है। परिश्रम दो प्रकार से किया जाता है—नियमित (Regular) तथा अनियमित (Irregular)। नियमित परिश्रम मनुष्य शक्ति का सीमित क्षय करता है और उसी क्रम तथा अनुपात से उसका संचार भी करता रहता है। इससे परिश्रम करने पर भी वह प्रसन्न, प्रफुल्ल और स्वस्थ रहता है। अनियमित परिश्रम में काम करने बैठे तो समय की सीमा का ज्ञान ही नहीं रहता। कभी-कभी तो लोग कार्य का पीछा तब तक नहीं छोड़ते, जब तक कि उनकी शक्ति पूर्णतः क्षीण न हो जाए। ऐसे लोग प्रायः बाद में दुःखी होते हैं, अस्वस्थ रहते है और फिर महीनों परिश्रम में जुटने का साहस नहीं करते। मनोरंजन की भी यही दशा है, वह इसी प्रकार दो भागों में बाँटा जा सकता है। नियमित मनोरंजन सीमाबद्ध और परिश्रमोपरांत होने के नाते मनुष्य में दोबारा परिश्रम करने की शक्ति पैदा करता है। उसके मस्तिष्क तथा शरीर की थकावट का हरण कर ताजगी भर देता है। इसके विपरीत यदि अनियमित रूप से इसे अपनाया जाए तो मनुष्य को बुराई के गड्ढे में ऐसा धकेलता है कि वह विश्राम और परिश्रम दोनों की सीमा से छूटकर मनोरंजन वृत्ति की ही तुष्टि करता रह जाता है। अनेक प्रकार की बुरी आदतें विकसित होती हैं, जिनसे मनुष्य सर्वांगीण हानि उठाता है। यहाँ शिक्षा का कर्तव्य

हो जाता है कि मानव-जीवन के इस महत्वपूर्ण अवयव का परिमार्जन तथा पथ-प्रदर्शन सुचारु रूप से करे। शिक्षा के उद्देश्यों में उसकी गणना करने का हमारा अभिप्राय ही यह है कि शिक्षा द्वारा मनुष्य में परिश्रम और मनोरंजन के क्षेत्र में 'नियमित' पक्ष की प्रधानता लाई जा सके। शिक्षा ही जन-समाज को नियमितता के लाभ सिखा सकती है और उसी के मार्ग दिखाने पर मनुष्य वास्तविक मनोरंजन की सीमा को पहचानता है। भिन्न प्रकार के मनोरंजन-साधनों को उपयुक्त परिश्रमी के लिये औचित्य-अनौचित्य के मान-दण्ड पर परखना शिक्षा का ही काम है। भला यह कहाँ तक उचित हो सकता है कि प्रातः से सायं तक शारीरिक परिश्रम करने वाला व्यक्ति, संध्या को मनोरंजनार्थ खेल के मैदान में जाकर भाग दौड़ करे? ऐसा करना तो उसके लिए परिश्रम ही हो जायगा। दूसरी ओर एक कार्यालय-कर्मचारी सम्पूर्ण दिवस मस्तिष्क पर दबाव डालता हुआ यदि संध्या को किसी वाचनालय में जाकर दर्शन-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ कर दे, तो क्या यह उसके लिए मनोरंजन होगा? शिक्षा ही एकमात्र ऐसा साधन हो सकती है, जो परिश्रम और मनोरंजन के भिन्न प्रकारों का उपयुक्त समन्वय प्रस्तुत करे। थके हुए मस्तिष्क के लिए खेल-कूद, सिनेमा-नाटक, आख्यानाध्ययन, पत्र-वाचन आदि क्रियायें तथा शारीरिक परिश्रम करने वाले के लिए वाचनालय में जाकर पुस्तकावलोकन, समाचार-पत्रों का पढ़ना, परिवार में बच्चों के साथ खेलना आदि क्रियायें, मनोरंजन के सार्थक साधन हो सकते है। इस पर भी कुछ विशिष्ट प्रतिबन्ध है, ताकि मनुष्य अपनी सीमा का अतिक्रमण न कर सके। प्रस्तुत क्षेत्र में शिक्षा एक निश्चित समय की माँग करती है, उसमें स्वयं योगदान देने में कटिबद्ध रहती है, और मनुष्य को उसके खाली समय का उचित उपयोग सिखाती है। इसीलिए हम महसूस करते है कि परिश्रम और मनोरंजन की सीमाओं का सम्यक् पथ-प्रदर्शन 'शिक्षा का उद्देश्य' होना ही चाहिये। इससे मानव जीवन में नियमितता और संतुलन बनता है, जिससे व्यक्तित्व के विकास में पर्याप्त सहायता मिलती है।

वास्तव में मानव-जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं, जिसमें शिक्षा का दखल न हो। और यह तो अखण्ड सत्य है ही, कि जीवन के किसी भी अवयव का सुचारु विकास शिक्षा के बिना असम्भव है। अतः शिक्षा के उद्देश्यों का कोई सीमित क्षेत्र निश्चित करना अति कठिन विषय है। ऊपर हम बहुत से उद्देश्यों का संकेत दे चुके हैं; उनके अतिरिक्त यदि यह कहा जाए कि जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक वृत्ति, प्रत्येक संवेदना, प्रत्येक चेतना, प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना, प्रत्येक प्रवृत्ति और प्रत्येक कामना शिक्षा की सहायता पाकर योग्य-जीवन के निर्माण में नींव के पत्थर सिद्ध

हो सकती हैं। जीवन का स्वास्थ्य, संतुलन और विकास शिक्षा के परम उद्देश्य हैं। अतः इनकी पूर्ति के मार्ग में आने वाली प्रत्येक क्रिया का मार्ग-प्रदर्शन शिक्षा द्वारा होना ही चाहिए। स्पष्ट है कि शिक्षा के उद्देश्यों का क्षेत्र अति विस्तृत है और शिक्षा को केवल कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में सीमित करने की सोचने वाले विचारक अनिवार्यतः शैक्षणिक-अपराधी हैं। सर्वाङ्गीणता और संकीर्णता का कोई सम्बन्ध नहीं।

शिक्षा-दर्शन की समस्या

मनुष्य में स्वत्व और अन्यत्व केवल दो ही मुख्य भाव रहते हैं। इन्हीं से प्रेरित होकर उसके सम्मुख आज तक दो ही दार्शनिक समस्याएँ आई हैं। 'अन्यत्व' के आश्रय वह 'विश्व क्या है ?' 'विश्व का आधार तत्त्व क्या है ?' यह जानना चाहता है। उसकी सत्यता की पराभौतिक व्याख्या करना चाहता है और अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ वहीं केन्द्रित कर आयु भर किसी रहस्यात्मक सत्य की खोज करता रह जाता है। दूसरी ओर स्वत्व का सहारा ले वह अपने लिए भी उलझा रहता है। 'वह स्वयं क्या है ? उसके अन्तर में मन क्यों है ? मन और शरीर का क्या सम्बन्ध है ?' आदि प्रश्न दूसरी समस्या की जटिलता हैं। रॉस ने इसे मानव-स्वरूप सम्बन्धी मानवीय-समस्या कहा है। स्पष्ट ही मानवीय और अति मानवीय, दोनों प्रकार की समस्याएँ मनुष्य के चिन्तन का आधार हो सकती हैं। स्वत्व पर विचार करता हुआ मनुष्य न केवल 'क्या' और 'क्यों' की समस्याएं ही खड़ी करता है, प्रत्युत सुधार और विकास को लक्ष्य करता हुआ 'कैसे' पर ध्यान देना भी उतना ही आवश्यक समझता है। 'क्या' और 'क्यों' पर चिन्तन करने से उसे तथ्यात्मक तथा आदर्शात्मक ज्ञान (जो कुछ विद्यमान है और जो कुछ होना चाहिए) और 'कैसे' पर मनन विचार करने से उसे विधि ज्ञान (कैसे होना चाहिए) की उपलब्धि होती है। मानवीय-समस्याओं का सम्बन्ध व्यवहारिक-क्षेत्र में जब शिक्षा-दर्शन से जुड़ता है, तो सर्वप्रथम उसे उस लक्ष्य को ढूँढ निकालना होता है, जिस पर पहुँचने पर ही मानव का परम विकास स्वीकार किया जा सकता है। तदुपरान्त लक्ष्य की ऊँचाई तक पहुँचने के लिए सोपान की खोज की जाती है, सिद्धि के साधन निकाले जाते हैं और उन सबकी सहायता से मनुष्य को 'मनुष्य' बनाया जाता है।

मानव के विकास-शील जीवन से एक साधारण सा उदाहरण कथित बात को पर्याप्त स्पष्ट कर देगा। बचपन में प्रायः बालक की बुद्धि 'क्या' तक सीमित होती है। प्रत्येक वस्तु उसके लिए नवीनता और विचित्रता लिए होती है। वह प्रत्येक वस्तु को ध्यान पूर्वक देखता और उसके 'क्या' तत्त्व को समझने का प्रयास करता है। अपने सम्बन्ध में भी वह विचारता है कि वह क्या है ? संसार क्या है ? उसके चारों ओर का वातावरण क्या है ? आदि। कुछ बड़ा होने पर उसकी यह विचार-धारा 'क्यों' की ओर मुड़ती है। वह सोचने लगता है, वह क्यों है ? विश्व क्यों है ? उसका लक्ष्य कौन सा है ? इन्हीं समस्याओं की उलझनों में फंसा यदि वह

किसी लक्ष्य का-ज्ञान प्राप्त कर ही ले, तो परिपक्वावस्था में आने पर उसके सम्मुख प्रश्न उठता है कि वह उस लक्ष्य को क्योंकर प्राप्त कर सकेगा ? यहाँ वह 'कैसे' के प्रश्न का उत्तर ढूँढता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पहले वस्तु-स्थिति, फिर लक्ष्य और फिर साधनों के स्वरूप का उसे चिन्तन करना होता है। इसी में स्वत्व और अन्यत्व की समस्याएं सन्निहित रहती हैं। यही कारण है कि दर्शन-शास्त्र और शिक्षा-दर्शन दोनों शाखाओं के विचारक क्रमशः 'क्या', 'क्यों' और 'कैसे' की समस्याओं को अंगीकृत कर उनके हल खोजते रहे और उन्हीं के आश्रय नवसिद्धान्तों (क्रमशः प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, व्यवहारवाद) की रचना कर दार्शनिक चिन्तन के अग्रसर करने में सहायी हुए।

मानवीय समस्याओं में 'क्या' और 'क्यों' के दोनों प्रश्न मनस् से सम्बन्धित हैं। जब हम कहते हैं 'मनुष्य क्या है ?' तो इसका सीधा सम्बन्ध मानव अनुभूतियों से होता है और बारबार यही संकेत जगता है, कि मनुष्य के मन का क्या रहस्य है ?' 'उसके भाव क्या हैं' और 'उसकी उत्पत्ति किससे हुई है ?' यह साधारण प्रश्न प्रत्येक कदम पर गूढ़ दार्शनिक बनते चले जाते हैं। 'मन चेतन है'; चेतन की उत्पत्ति जड़ से नहीं हो सकती—तो फिर कोई और चेतन भी होगा, जो विश्व के प्राणियों को चेतना देने की क्षमता रखता हो 'वह विश्व-चेतना'; कहला सकता है। उसी चेतना स्रोत से संसार की व्यक्तिगत चेतना का प्रकाश जहाँ-तहाँ दृष्टिगत होता है। इस प्रकार एक लम्बी विचारधारा की रूपरेखा बनती है, जो प्रत्येक प्रश्न के पीछे छिपे सम्भाव्य उत्तर प्रस्तुत करती चली जाती है।

'अन्यत्व' के आश्रय पनपने वाली विश्व के आधार तत्त्व सम्बन्धी समस्याएँ लगभग गहन दार्शनिक समस्याएँ हैं। निस्सन्देह इसकी पृष्ठभूमि में भी शिक्षा कार्य कर रही है। प्रज्ञावाद (बुद्धिवाद), जो इन समस्याओं की गहनता को सुलझाने का सद्प्रयास करता है, बौद्धिक-विकास के क्षेत्र में शिक्षा की ही देन है। अस्तु, परम-सत्य की खोज तथा विश्व के आधार-तत्त्व का पता चलाने के क्षेत्र में आदि-काल से आज तक दार्शनिकों ने पर्याप्त माथा-पच्ची की है—किसी विशेप निर्णय पर वे एकमत हुए होंगे, यह मैं नहीं कह सकता। हाँ, सम्भाव्य उत्तर देने में उन्होंने कोई कमी नहीं रहने दी। सच तो यह है कि दर्शन किसी भी स्थिति में कोई निर्णयात्मक उत्तर देता ही नही। उसका कर्तव्य शायद सम्भव सुझाव देने तक ही सीमित है। परम-सत्य की खोज में विचारों की भिन्नता होते हुए भी पाश्चात्य और पूर्वीय दार्शनिक एक तथ्य पर सहमत हैं, कि वह सत्य अवश्य ही चेतन होगा। संसार की सम्पूर्ण चेतनता उसी के कण-मात्र प्रभाव का प्रतिबिम्ब है। उनकी मान्यता है कि या तो जड़ता में भी चेतनता है, जो मामूली होने के कारण अप्रत्यक्ष

है, या कहीं परम-सत्य-चेतनता का यह प्रतिबिम्ब अपना सार खोकर जड़ बन बैठा है। इन दोनों मतों में पहला अधिक मान्य है। भारतीय विचारधारा में सांख्य-शास्त्र ने तो परम-सत्य को जड़ और चेतन दोनों रूपों में स्वीकार कर उसे प्रकृति और पुरुष नाम दिये हैं। हमारे मतानुसार तो यह परम-सत्य ही विश्व का आधार-तत्त्व है। भारत के विचारकों में शंकराचार्य, रामानन्द, रामानुज तथा निम्बर्काचार्य सरीखे विद्वानों ने ऐसा ही माना है। परन्तु पश्चिम यहां गम्भीर हो उठेगा; क्योंकि उसकी विचारधारा का आरम्भ सृष्टि के आधार-तत्त्व रूप में किसी चेतन की अपेक्षा भौतिक-तत्त्व (Element) को ढूंढने से ही हुआ है। यूनानी दर्शन के जनक थाले (Thales) के अनुसार केवल जल ही संसार का एकमात्र मूल-तत्त्व हो सकता था। बाद में कुछ विचारक अग्नि और वायु को भी इस प्रतिष्ठित स्थान पर स्थापित करते रहे। अन्त तक पहुँचते पहुँचते यह पद परमाणुओं ने ग्रहण कर लिया। आज विज्ञान युग की उन्नति के कारण परमाणु-सिद्धान्त भी डगमगा रहा है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि परमाणु अपने में इकाई नहीं, उसमें भी इलैक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन मिले रहते हैं। ये लोग प्रायः सबके सब जड़ अद्वैतवादी थे। तदुपरान्त डेकार्ट्स के उदय से पश्चिम में द्वैतवादी युग शुरू हुआ। उसने मनुष्य को शरीर और आत्मा का समन्वय स्वीकार किया, अर्थात् मन और पदार्थभूत प्रकृति की पृथक् सत्ताएँ मान लीं। उसके विरोधी दल लौक, बर्कले, ह्यूम ने धीरे धीरे दोनों तत्त्वों से मुकरने का प्रयत्न किया। यही विचारधारा कुछ सुधरे और व्यवस्थित रूप में भारत में विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से पहले ही चल चुकी थी। अद्वैतवाद में भी भारत आगे रहा था। यहां के विद्वानों ने चेतन-परम-सत्य 'ब्रह्म' के नाम से स्वीकार किया था और इस जड़-चेतन जगत् की उत्पत्ति उसकी ऐच्छिक या अनिवार्य शक्ति माया द्वारा मानी थी। यूनान में बहुत्ववाद भी चल चुका था—उन्होंने जल-वायु-अग्नि और पृथ्वी, सबको विश्व-निर्मिति का संयुक्त कारण भी मान लेने की सोची थी। वैसे तो भारतीय विचारधारा आज भी पांच तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करती है, तथापि उन्हें सत्यांश न मानकर माया कहा जाता है। आधुनिकतम पश्चिमी विचार केवल अनुभव को ही सत्य स्वीकार करने लगे हैं—बस शर्त यह है कि वह सत्य (अनुभव) व्यावहारिक और सुलझा हुआ होना चाहिए। इस प्रकार पराभौतिक परम-सत्य तथा सृष्टि के आधार-तत्त्व की समस्या को अपनाकर अनेक विचार प्रस्तुत किये गये और उन्हीं धाराओं की परम्पराओं में आज अनेक सिद्धान्त शिक्षा-दर्शन ने अपना लिये हैं और उनको व्यावहारिकता की कसौटी पर कसने के सद्प्रयत्न किये जा रहे हैं। भौतिक-पदार्थ को संसार का आधार मानने वालों की परम्परा में आज शिक्षा-क्षेत्र में भौतिकवाद की सार्थकता व्यर्थता की ओर बढ़

रही है। द्वैतवादियों की परम्परा में आदर्शवाद का उदय हो रहा है। प्रकृति को ही सर्वस्व जानने वाली परम्परा (वस्तुवाद) आज शिक्षा-क्षेत्र में प्रकृतिवाद पर जोर दे रही है। अनुभव और व्यवहार को सत्य मानने वाली आधुनिकतम विचार-धारा शिक्षा में व्यवहारवाद को ही मात्र योग्य सिद्धान्त मानती है। कुछ बुद्धिवादी, जो मनस् और पदार्थ के पचड़े में नहीं फँसना चाहते, वे हर बात में युक्ति चाहते हैं, विश्व को युक्तिपूर्ण (Rational) मानते हैं और तर्कवादी कहलाते हैं। उनके मतानुसार बुद्धिवाद ही शिक्षा का आधार हो, तो योग्य होगा। (इनमें से मुख्य वादों की व्याख्या आगे की जाएगी।) इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वत्व और अन्यत्व सम्बन्धी दोनों ही प्रकार की समस्याएँ घूम-फिर कर शिक्षा-दर्शन पर प्रभाव छोड़ ही जाती हैं। उनसे प्रभावित हो, शिक्षा-दर्शन में आने वाले परिवर्तन, उसे निजी क्षेत्र की 'कैसे' सम्बन्धी दोनों समस्याओं के प्रति सजग कर देते हैं। शिक्षा-दर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त उन्हीं दो आधारों को प्रमुख मानकर कार्य-क्षेत्र में अवतरित होता है।

वे आधार हैं, जीवन-लक्ष्य और प्राप्ति साधन। शिक्षा दर्शन, चाहे किसी भी सिद्धान्त पर पनपने वाला क्यों न हो, इन दोनों समस्याओं की खोज-पड़ताल ही उसका प्रथम और अन्तिम कर्तव्य होगा। पीछे हमने पराभौतिक और मानवीय समस्याओं के आश्रय कई प्रकार के दार्शनिक-सिद्धान्तों का शिक्षा-क्षेत्र में आगमन स्वीकार किया है—वे हैं, भौतिकवाद, प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, व्यवहारवाद, बुद्धिवाद आदि। इन्हीं के भिन्न दृष्टिकोणों से शिक्षा में जीवन-लक्ष्य और उनकी प्राप्ति के साधन हमारी इस सम्पूर्ण कृति का विषय है। भौतिकवाद या बुद्धिवाद सरीखे अनावश्यक सिद्धान्तों की व्याख्या हम पृथक् न करें, तो भी उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये शिक्षा के उद्देश्य और शिक्षण-विधियाँ अपना निजी स्थान रखती हैं। भौतिकवाद केवल भूत-पदार्थों को ही विश्व के मूल-तत्त्व स्वीकार करता है। प्राचीन काल की यूनानी विचारधारा के अनुसार संसार के इस महायन्त्र को चलता रखने के लिये तीन ही शक्तियाँ कार्यरत होती थीं—परमाणु, आकाश और गति (Atoms, Ether and Motion)। आज भी भौतिकवाद इन्हीं तीनों शक्तियों की सत्ता पर आधारित है। अतः प्रस्तुत सिद्धान्त वाले जो सृष्टि का निर्माण चेतन से नहीं, जड़ से मानते हैं, और जो आज जीवित-कोशिका (Living Cell) बनाने के लिये भी भौतिक-अनुसन्धान कर रहे हैं, शिक्षा के क्षेत्र में एकमात्र उद्देश्य प्राकृतिक चुनाव का यान्त्रिक-सिद्धान्त (Mechanical Principle of Natural Selection) ही मानते हैं। उनके मतानुसार जीवन का उच्चतम रूप इसी चुनाव से उपलब्ध है। इसी लक्ष्य को अपनाकर वे पहली समस्या का हल पेश करते हैं। प्राकृतिक चुनाव कैसे

हो, यह दूसरी समस्या है। इसके लिये प्राचीन युग में केवल 'जंगल का विधान' तथा 'जो है शक्तिशाली, सबल जो, जीने का है अधिकार उसे' के सिद्धान्त अपनाए जाते थे। भौतिक शक्ति और उसके द्वारा प्राप्त किये गये अनुभव ही शिक्षा की प्रमुख विधि मानी जाती थी। शारीरिक शिक्षा के भिन्न रूप अधिक प्रचलित थे। यूनान में ऐसी जातियाँ भी थी जो जन्मते बालक का ऊर्जा-परीक्षण (Test of Energy) करने के बाद ही उसका पोषण करना उचित मानती थीं। कितनी विस्मयजनक बात है कि जन्मते बालक को रात में अकेला पर्वत की चोटी पर छोड़ दिया जाए, और यदि वह अगले दिन तक जीता रहे तो उसकी पालना होती, अन्यथा प्रश्न ही न उठता। आज वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने भौतिकवाद की क्षमता पर घातक आघात पहुँचाया है। उसके परमाणु-सिद्धान्त की निःशक्ति प्रमाणित कर दी है। परमाणु का विघटन भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार भौतिकवाद के पुराने सादा सिद्धान्त का लगभग अन्त हो चुका है। उसका स्थान धीरे धीरे शिक्षा-दर्शन के अन्य रूप प्रकृतिवाद ने अपना लिया है।

प्रकृतिवाद शिक्षा क्षेत्र में विद्यार्थी के व्यक्तित्व का प्राकृतिक विकास चाहता है, यही उसका उद्देश्य है। इसके लिए प्रकृतिवाद दो धाराओं में बटता तथा भिन्न पद्धतियों तथा विधियों के आश्रय कथित उद्देश्य की पूर्ति की ओर बढ़ता है। उसका पहला स्वरूप यान्त्रिक (Mechanical) और दूसरा जैवकीय (Biological) है। यान्त्रिक स्थिति में प्रकृतिवाद मनुष्य को विश्व-कल का पुर्जामात्र मानता है, और उसके उचित स्थान पर युक्त ढंग से अनुकूलता प्राप्त कर लेना ही जीवनोद्देश्य। इसका आधार भी लगभग भौतिकवाद ही है। इसकी विधि, यही है, कि कोई विधि नहीं। जिस प्रकार जंगल में पैदा होने वाली लता अपना आश्रय-वृक्ष स्वयं ढूंढ लेती है, वैसे ही मनुष्य को अपनी अनुकूल परिस्थिति स्वयं बनानी होगी है। हाँ, जैवकीय स्वरूप में प्रकृतिवाद पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है। वह मनुष्य को जीव-विकास की चरम-उपलब्धि स्वीकार करता है, परन्तु उसकी व्याख्या संस्कृति युग सिद्धान्त (Cultural Epoch Theory) के सहारे करना अधिक श्रेय समझता है। तभी तो इसकी विधियों में स्वानुभव तथा क्रियाशीलता को ऊँचा स्थान दिया गया है। परिपक्वता प्राप्त करने तक मनुष्य जिन परिस्थितियों को लांघता है, और जो अनुभव उसे वहाँ से प्राप्त होते हैं, वे सब मिलकर मनुष्य को प्राकृतिक-मानव बना देते हैं। यही प्रकृतिवाद का लक्ष्य भी है।

तदुपरान्त आदर्शवाद का नाम आता है। प्रस्तुत सिद्धान्त मनुष्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व तथा मानसिक अस्तित्व पर जोर देता है। संसार का अस्तित्व चेतना पर है, जड़िमा पर नहीं, ऐसा उसका विश्वास है। अतः इसके लिए शिक्षा

का परम उद्देश्य जीवन की उच्चतम स्थिति है । आदर्शवाद ने उद्देश्य कहीं सीमित नहीं किया, प्रत्येक व्यक्ति का निजी सामर्थ्य ही उसकी उच्चतम-स्थिति का नियन्त्रण प्रस्तुत करता है । उसके लिए आदर्श का सीमा-विहीन होना ही जीवनोद्देश्य की सफलता है, और असन्तोष ही प्रेरणा । क्योंकि इसने सृष्टि का आधार चेतन स्वीकार किया है, इसलिए मानव-मन की स्वतन्त्र-सत्ता को मान्य गिनता है । यही कारण है कि आदर्शवादी शिक्षा-प्रणाली मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक सब प्रकार के चरम-विकास को लक्ष्य किये रहती है । इन लक्ष्यों की साधना की विधियों में आदर्शवाद ने शिक्षक द्वारा डाले जाने वाले उपयुक्त प्रभाव के स्वरूप को ग्रहण किया है । भौतिकवाद या प्रकृतिवाद की तरह यह प्रकृति को ही गुरु स्वीकार नहीं करता । इसके अनुसार एक व्यक्तित्व का दूसरे व्यक्तित्व पर प्रभाव ही शिक्षा है । ध्यान रहे कि यह प्रभाव बलात् दूसरे के प्रस्फुटित व्यक्तित्व को कुचल देने वाला न हो, बल्कि उसके विकास में सहायक बने । मनोवैज्ञानिक रूप में विद्यार्थी के भाव-विकास का भी इसमें ध्यान रखा जाता है । भारतीय आदर्शवाद तो एकाग्रचित्तता को ही शिक्षा-प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन मानता रहा है और इसके लिए उसने उपयुक्त रहन-सहन, वातावरण तथा पद्धति भी ढूँढ निकाली थी ।

व्यवहारवादी शिक्षा का उद्देश्य जीवन में उपयोगिता को ऊँचा स्थान देना है । उसके लिए जो उपयोगी है, वही सत्य है और जो सत्य है, वही उपयोगी होगा ही । प्रत्येक सत्यता परीक्षण द्वारा खरी उतरनी चाहिये, अन्यथा व्यवहारवाद उसे सत्यता नहीं मानेगा । सच पूछो तो प्रस्तुत विचारधारा पर आश्रित सम्पूर्ण शिक्षा उपयोगिता-वादी शिक्षा है । विधियों के क्षेत्र में व्यावहारिकता, स्वानुभूति, प्रयोग-शैली आदि ढंग अपनाए जाते हैं । इन विधियों में परीक्षण द्वारा खरा प्रमाणित होने की धारणा कहीं न कहीं अवश्य दीख पड़ती है । विषय-अध्ययन में उपयोगिता बढ़ाने के लिए आयोजन-विधि (Project Method) अपनाई जाती है । इससे एक विषय का पाठ कराते समय अन्य विषयों का ज्ञान भी साथ-साथ करवाया जाता है और विद्यार्थियों के लिये अच्छे मन-बहलाव का साधन भी उपस्थित हो जाता है ।

बुद्धिवादी शिक्षा-प्रणाली तर्क को जीवन की सत्यता स्वीकार करती है । उसके अनुसार तर्कयुक्त बात ही ग्राह्य और उचित हो सकती है । हर कथन को तर्क की कसौटी पर घिसना और उसके परिणाम की गहराई तक पहुँचना बुद्धिवाद का लक्ष्य रहता है । प्रस्तुत शिक्षा शिक्षार्थी के लिए इतना बौद्धिक-विकास अनिवार्य समझती है, कि जिससे वह अपने जीवन की प्रत्येक घटना, अनुभव या समस्या को स्वयं समझ सके, उसका तर्कयुक्त हल खोज निकाले, और स्वयं निर्णय करना सीख जाए । इसके लिए प्रत्यक्ष-निर्देश (Direct Instruction) के साधन जुटाये जाते हैं । निर्देशन द्वारा

अध्यापन के साथ साथ तर्क-शक्ति बढ़ाने तथा परिपक्व आपत्ति प्रस्तुत करने की योग्यता प्रदान करने के लिये वाद-विवाद या शास्त्रार्थ, तर्क-गोष्ठियों और वक्तृत्व-स्पर्धाओं का आश्रय लिया जाता है। ये कुछ ऐसी विधियां हैं जो शत-प्रतिशत बुद्धि या विवेक का अवलम्ब लेती और बौद्धिक-विकास का साधन बनती हैं। बुद्धिवाद मानसिक समस्याओं का समाधान भी बुद्धि ही के द्वारा करना चाहता है। मन के भावों को वह मस्तिष्क से निम्न मानता हो, इसमें सन्देह है। यही कारण है कि बुद्धिवादी शिक्षा मानसिक साधना की उपेक्षा करती रही है और अब भी मन की वृत्तियों का शोधन या प्रति-शोधन तार्किक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती है, जो स्पष्ट ही एक भयंकर गलती है।

इस प्रकार शिक्षा-दर्शन मानव-जीवन की उन्नति को लक्ष्य करता हुआ सदैव उसकी सर्वांगीण समस्याओं का हल ढूंढता और जटिलताओं को सुलझाता रहा है, और अब भी अपने कर्तव्य से टलता नहीं। सच तो यह है कि जीवन की प्रत्येक समस्या शिक्षा की समस्या है, और शिक्षा की हर कठिनाई का हल ढूंढना दर्शन का क्षेत्र। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा-दर्शन की समस्याएं जीवन की ही समस्याएं हैं, कहीं बाहर से नहीं अपनाई जातीं।[१]

---

१. इस अध्याय का विचार और आधार श्री जे० एस० रोस की रचना "The Groundwork of Educational Theory" से मिला है। अतः हम उनके धन्यवादी हैं।

शिक्षा में प्रकृतिवाद

प्रकृतिवादी-विचार-प्रणाली का जन्म १९वीं शताब्दी में विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति पर आधारित स्वीकार किया जाता है । भौतिक-संसार या पदार्थ-जगत् के परिवर्तनों में एक निश्चित क्रम देख कर, विज्ञान उन प्राकृतिक तथ्यों की पृष्ठ भूमि की जाँच करने हेतु आगे आया और उसकी यह वृत्ति अनुसन्धान क्रम कहलायी । विज्ञान का प्रस्तुत स्वरूप भौतिक उपकरणों का आश्रय लेकर 'तथाकथित' प्रगति-पथ पर कुछ इतना आगे बढ़ गया कि विश्व के सम्पूर्ण अस्तित्व की व्याख्या और विश्लेषण भौतिक-समर्थन पर करने लगा । परिणाम यह हुआ कि पदार्थ-जगत् की वृद्धि के साथ मानसिक-जगत् का ह्रास सा होने लगा । विज्ञान की इस पदार्थवादी-भावना ने दर्शन के क्षेत्र पर भी अनाधिकार धावा बोला और यद्यपि वह मनस्-सृष्टि का अन्त नहीं कर सकी तो भी उसे भौतिक-साँचे में ढालकर प्रकट करने के स्वप्न अवश्य देखने लगी । उसके लिए मन या तो भौतिक द्रव्य का ही एक-रूप हो गया, या उसका एक गुण । वास्तव में मन को शारीरिक-अवयव-मस्तिष्क का पर्याय मान लिया गया तथा उसकी संवेदनाओं की सृष्टि को मस्तिष्क का संचलन कह कर पुकारा । प्रकृतिवाद ने इसी खींचातानी में विज्ञान से अनुसन्धान तत्त्व तथा नैसर्गिक-विकास-परिचय पाया और दर्शन से उन निमित्तों को विश्व-व्यापी बनाने की प्रेरणा प्राप्त की । अतः स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के अधिक निकट रहा है; और यदि इसे इन दोनों की जार्ज-सन्तान भी कहा जाये तो मेरे ख्याल में कोई अत्युक्ति न होगी । सच तो यह है कि प्रकृतिवाद को दर्शन या विज्ञान की संज्ञा देने की अपेक्षा केवल एक विचार शैली कहना ही अधिक उपयुक्त है ।

प्रकृतिवाद का स्वरूप—

प्रकृतिवाद पर समय के थपेड़ों ने कई प्रकार के स्थायी प्रभावों की छाप बिठा दी । विशेषकर भौतिक-विज्ञान, औद्योगिक-प्रगति तथा डार्विन के विकासवाद ने तो प्रकृतिवाद की धारा को भिन्न शाखाओं में बाँट कर त्रिपथगा ही बना डाला । पहली धारा भूत-पदार्थों या बाह्य-प्रकृति को ही लक्ष्य करके चलती है । चेतन-मनुष्य उसके लिए लगभग उपेक्षणीय ही रहा है, अतः शिक्षा क्षेत्र में इस प्रकार के भौतिक-विज्ञानों पर आधारित प्रकृतिवाद के किसी सहयोग का प्रश्न ही नहीं उठता । दूसरी धारा, जिसका उदय औद्योगिक प्रगति पर अवलम्बित है, यान्त्रिक प्रकृतिवाद (Mechani-

cal) कहलाई। जेम्स रॉस के मतानुसार, मनुष्य को मात्र यन्त्र समझती हुई भी यह धारा शिक्षा के कुछ निकट रही है क्योंकि इसकी नींव पर ही आचरण-वादी-मनोविज्ञान (Behaviourism) का भवन निर्मित हुआ है । दार्शनिक दृष्टि से यान्त्रिक-प्रकृतिवाद सम्पूर्ण विश्व को एक महान् यन्त्र समझता है, जिसे एक बार चालू कर दिया गया था और अब उसमें ढिलाई आने के कारण उसकी शक्ति क्षीण होती जा रही है। व्यक्तिगत मनुष्य को भी यन्त्र माना जाता है । अर्थात् मनुष्य बड़े यन्त्र का एक भाग है और अपने में पूरा यन्त्र भी । उसके चालू होने या करने में कोई पराभौतिक या मनस् जगत् की शक्ति कर्मान्वित होती होगी, ऐसा विश्वास प्रस्तुत प्रकृतिवाद को मान्य नहीं। वह मन को मस्तिष्क का ही एक गुण स्वीकार करता है ? अभिप्राय यह कि वह भूत द्रव्य से ही चेतन की उत्पत्ति भी मानता है। परन्तु यह उसकी नादानी है भला जड़ में से चेतन की उत्पत्ति हो ही कैसे सकती है ? पुनः मस्तिष्क की जागरूकता परिस्थितियों पर आश्रित रहती है, मनस् के चेतन प्रवाह की तरह उसमें धारावाहिकता नहीं होती, विक्षिप्त विचारधाराओं का संग्रहमात्र ही रहता है । यही कारण है कि आचरण-वादी-शिक्षा (Behaviouristic-Education) सम्बद्ध प्रति-क्रिया (Conditioned Response) तथा 'करो और सीखो' की विधियों पर जोर देती रही है।

शिक्षा और सामान्य क्षेत्रों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण धारा, प्रकृतिवाद का तीसरा रूप है, जिसकी आधार-भित्ति डार्विन का विकासवाद है, परिस्थिति और आवश्यकता पर आधारित अपने अस्तित्व को बनाए रखने की जो प्रवृत्ति पशुओं में पाई जाती है, उसी के विकासानुसार डार्विन पशु से मनुष्य का उदय स्वीकार करता है उसने पशु या मनुष्य का मूलवंशीय चित्रण प्रस्तुत किया है और 'जीवन के लिए संघर्ष' (Struggle for the existence) के सिद्धान्त को मानकर मनुष्य के वर्तमान् रूप की कल्पना की है । अतः कहा जा सकता है कि डार्विन जिस सतत विकास को 'पशु-जगत्' का आधार स्तम्भ कहता रहा, उसी को प्रकृतिवाद की तीसरी धारा ने अपनाया और मनुष्य के प्राकृतिक स्वरूप—जैसा वह पशु-स्तर पर था—पर बल दिया। क्योंकि यह सिद्धान्त मनुष्य की भौतिक या शारीरिक क्षमता के विकास या ह्रास पर विचार प्रकट करता है, अतः प्रायः जैविकीय-प्रकृतिवाद (Biological Naturalism) कहलाता है । जेम्स रॉस के मतानुसार जैविकीय-प्रकृतिवाद मनुष्य की उस प्रकृति पर बल देता है, जो वह अपने पूर्व-मानवीय पूर्वजों से प्राप्त किये है, उसकी आत्मिक-प्रकृति इस प्रणाली के अन्तर्गत गौण मानी जाती है । मनुष्य की वास्तविकता, पाशविक और मानवीय निसर्ग नियमों की समानता की तुला पर तोली जाती है । यही कारण है कि प्रकृतिवाद का प्रस्तुत रूप मनुष्य की नैसर्गिक-संवेदनाओं (Natural Impulses) को अधिक महत्त्व देता है और उनकी पूर्ति वहीं तक

सीमित मान ली जाती है। यहाँ प्रकृति से 'जो है' का तात्पर्य नहीं, 'जो था' का तात्पर्य लिया जाता है। खुले वातावरण, प्राकृतिक दृश्यों या नैसर्गिक रम्य-स्थलों को भी यहाँ लक्ष्य नहीं बनाया गया—प्रकृति के रूप में मनुष्य के आदिम स्वभाव की ओर संकेत है। इसमें मनुष्य की जन्मजात-प्रवृत्तियां (Propensities), आद्य-चेतनाएं, स्वार्जित-विचार, संघर्षान्वित-अनुभव आदि उसके व्यवहार के सम्यक् पथ-प्रदर्शक मान लिए जाते हैं। किसी के द्वारा प्रस्तुत किये विचारों या अनुभवों की लगभग उपेक्षा की जाती है, ऐसी रूसो की मान्यता है। रूसो का यह कहना कि 'बालक को एक ही आदत डालो कि उसे कोई आदत न पड़े,' भी इसी की पुष्टि करता है।[1] शिक्षा में प्रकृतिवाद के प्रवर्तक ने प्रकृति की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है। 'हमारी हर्ष-शोक की चेतनाओं व संवेदनाओं से युक्त आद्य-भावनाएं, तथा उन पर स्थित निर्णय—मेरे मतानुसार यही सब प्रकृति है।'[2] प्रकृति की प्रस्तुत परिभाषा जैविकीय भाव के साथ साथ मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का भी अवगाहन करती है। वैसे भी रूसो द्वारा प्रस्तुत किए गये शिक्षा-सिद्धान्त और उसके 'एमील' की शिक्षा की भिन्न स्थितियाँ अगतिवाद-शिक्षण-पद्धति को शत प्रतिशत मनोवैज्ञानिकता के साँचे में ढाल देती हैं। परिणामस्वरूप जैविकीय-प्रकृतिवाद जैविकीय-मनोवैज्ञानिक (Bio-Psychological) बन गया है। प्रकृतिवाद का यही स्वरूप शिक्षा-क्षेत्र में अपनाया जाता है। पदार्थ और शक्ति (Matter & Force) परस्पर अन्तक्रिया के साथ साथ वातावरण के प्रभाव में जब प्रतिक्रिया भी करने लगते हैं, तो प्राणी-मात्र में उत्क्रान्ति का उदय होता है। मनुष्य को इस वातावरण में पनपने का सामर्थ्य प्रदान करना ही उसकी शिक्षा है, बस शर्त यह है कि उस पर कुछ ठूंसा न जाये, बल्कि उसे प्रकृति के खुले प्रांगण में स्वगति से विकसित होने का अवसर दिया जाना चाहिए। स्पष्ट ही ऐसी स्थिति में हम प्रकृतिवाद को दार्शनिक-सिद्धान्त कहने में असहमत होगे। दार्शनिक-विचारधारा बिना किसी आदर्श या लक्ष्य को संकेत किए उसकी सत्यता की खोज नही करती, न ही तर्कशैली से ही कुछ परिकल्पनाएं (Hypothesis) रच उन पर अनुसन्धान करने की क्षमता रखती है। परन्तु प्रकृतिवाद जैविकीय-मनोवैज्ञानिक रूप में कभी कोई आदर्श सम्मुख रखने की स्थिति में होगा, इसमें हमें सन्देह है।

---

१. 'The only habit which the child should be allowed to form is to contract no habit whatever'—Rousseau.

२. 'Primitive dispositions, including our sensations and feelings of pleasure and pain, together with the judgement founded on these—these dispositions are what I call nature.'—Emile, Introduction.

अतः यदि हम प्रकृतिवाद को खुले बन्धनों का दर्शन कहने की अपेक्षा एक विचार-शैली कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

प्रकृतिवादी-शिक्षा

रूसो का कहना है कि देश और काल में सीमित सब प्राकृतिक वस्तुओं का अस्तित्व, उनको प्रयोग में लाने की मानवीय योग्यता पर ही निर्भर है।[1]

इसका एक मात्र कारण है—मानवाभिलाषा से उसके स्वभाव की उत्पत्ति होना। इसीलिए रूसो शिक्षा के तीनों साधनों—प्रकृति, मनुष्य और वस्तुओं में से प्रकृति को सर्वोत्तम मानता हुआ भी, दूसरे दोनों आधारों का महत्त्व अस्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार प्रकृतिवादी शिक्षा हमारी शक्तियों और अवयवों का आन्तरिक विकास प्रस्तुत करती है। मनुष्य द्वारा दी गई शिक्षा हमारे प्राकृतिक-विकास से पूरा पूरा लाभ उठाने की योग्यता का अर्जन कहा जा सकता है। प्रकृति से हमें संधारणीय अपरिपक्व पदार्थ अर्थात् पूर्णतः विकसित शारीरिक अवयव उपलब्ध हैं—जिसका संकलन केवल पशुवत्-मानव कहलाता है। पशु से ऊपर उठा मनुष्य, चाहे जंगली ही क्यों न हो, पहली स्थिति से उत्तम है क्योंकि उसमें जातीय-वृत्ति, भाषा और परम्परागत विचारधाराएँ संगृहीत होती हैं। 'प्राकृतिक मनुष्य अपने में पूर्ण होता है, वह सर्वाङ्गीण इकाई है अपने तथा अपने सहयोगी मानवों से सम्बन्धित वह सर्व-समन्वित व्यष्टित्व है। सभ्य व्यक्ति खण्डित इकाई है। वह सामाजिक-व्यवस्था रूपी समष्टित्व में विभाजक पर आधारित क्षुद्र अवयव बन कर रह जाता है'।[2] अतः मनुष्य की प्राकृतिकता को बनाए रखने के लिए ही प्रस्तुत शिक्षण-पद्धति का आविर्भाव हुआ है और वह पुकार पुकार कर कह रही है 'प्रकृति का साथ दो, प्रकृति का साथ दो,' (Follow Nature)। प्रश्न उठता है कि शिक्षा क्षेत्र में प्रकृति का साथ क्योंकर दिया जा सकता है?

---

१. All natural things in time and space exist for men on condition that he has intelligence and skill to use them.

—Rousseau, Emile's Introduction.

२. "The natural man," he says, "is complete in himself, he is the numerical unit, the absolute whole, who is related only to himself or to his fellow-men. Civilized man is, but the fractional unit that is dependant on its denominator, whose value consists in its relation to the whole, which is the Social Organization." — Rousseau, quoted by the translator of Emile, William H. Payne.

उत्तर के लिए संकेत हम पहले ही पा चुके हैं—सरल स्वाभाविक गति से विद्यार्थी का पथ-प्रदर्शन किया जाये, जिसमें तथ्य अधिक हों, काल्पनिक-आदर्शों के अभाव और आन्तरिक-चेतना को अपनाया जाए, वही पद्धति प्राकृतिक शिक्षा प्रणाली के सुनाम से पुकारी जाएगी। "अपनी विधियों को जितना बन पाये, सरल-सहज बनाओ। शिक्षा क्रम को उलझनमय बनाने वाले सब अवलम्बनों पर अविश्वास रखो, अपने शिक्षार्थी को वास्तविकता का सामना करने का सुअवसर दो, प्रतीक को पदार्थ से मिलाओ, जहाँ तक सम्भव हो सके शिक्षा को व्यक्तिगत खोज का क्रम बनाओ; केवल प्रमाणों पर नहीं के बराबर आश्रित रहो आदि।" मैं रूसो के कथन 'प्रकृति का साथ दो' की यही व्याख्या करता हूँ।[१]

प्रकृतिवादी शिक्षा की दूसरी विशेषता उसका प्रगतिवादी (Progressive) होना है। प्रवर्त्तकों के मतानुसार जिस प्रकार बालक का भाव-विकास आयु के प्रति-वर्द्धन के साथ साथ होता है और उसकी प्रवृत्तियों में परिपक्वता आती जाती है, इसी तरह उसकी शिक्षा को भी धीरे धीरे पनपना चाहिए। बालक से मनुष्य के कार्यों की आशा रखना उसके विकास का गला दबा देने के बराबर है। उसकी आरम्भिक कच्ची वृत्तियों को जैविकीय पृष्ठभूमि पर संस्कृति-युग-सिद्धान्त के सहारे पकने दो। अग्नि की ज्वाला पैदा होते ही उसमें हरी घास झोंक देने से प्रायः वह ज्वाला भी बुझ जाती है। परन्तु ज्वाला के पूर्णतः भड़क उठने पर उसमें जो भी डालो वह भस्म करने की शक्ति रखती है, यही दशा बालक की भी है। उसका शिक्षा ग्राही प्रवृत्ति रूपी पात्र अभी कच्चा है, उसे प्रकृति की गोद में ही पकने दो। सुदृढ़ता प्राप्त कर वह भावी प्रचण्ड धाराओं को भी समेटने में समर्थ हो जायेगा। 'रूसो ने शिक्षा-प्रदान के लिए शिशु-जीवन से मानव की परिपक्वावस्था तक जो चार भिन्न स्थितियां प्रस्तुत की हैं, उनका सृजन इसी विचार की पृष्ठभूमि पर किया गया है। वे ही शिक्षा प्रकृति-वाद में प्रगतिवादी शिक्षा कहलाती है।

तीसरी विशेषता इसका निषेधात्मक होना है। श्री जेम्स रॉस ने रूसो के द्वारा

---

१. "Simplify your methods as much as possible; distrust the artificial aids that complicate the process of learning, bring your pupil face to face with reality; connect symbol with substance; make learning, as far so possible, as process of personal discovery; depend as little as possible on mere authority. This is my interpretation of Rousseau's percept 'follow nature'—Emile's introduction by the translator, William. H. Payne.

आर्क बिशप ए० क्रिस्टोफ दावोमों को लिखे गये एक पत्र का उद्धरण देते हुए लिखा है 'मैं विधेयात्मक (Positive) शिक्षा उसे कहता हूँ, जो मन को समय से पहले बनाने की और बच्चे को बड़े मनुष्य के कर्तव्य की शिक्षा देने की प्रवृत्ति होती है। मैं निषेधात्मक शिक्षा उसे कहता हूँ, जो प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान देने से पहले उन अंगों को, जो इस ज्ञान के उपकरण हैं, पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति रखती है और जो इन्द्रियों के समुचित अभ्यास द्वारा तर्क के लिए रास्ता बनाने का यत्न करती है। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ निकम्मेपन का समय नहीं है, बल्कि इस से उल्टी बात है। यह गुण की शिक्षा नहीं देती, बल्कि अवगुण से रक्षा करती है। यह सत्य की शिक्षा नहीं देती, पर गलती से बचाती है। यह बच्चे को उस रास्ते पर चलने देती है, जो उसे बड़ा होने और सत्य को समझने योग्य होने पर सत्य की ओर ले जाएगा; और जो उस समय उसे अच्छाई की ओर ले जायेगा, जब उसमें अच्छाई को पहचानने और उसे अच्छा समझने की योग्यता पैदा हो जाएगी।'[1] स्पष्ट है कि प्रकृतिवादी शिक्षा बालक को उसी के मनोवैज्ञानिक विकास-वृत्त तक सीमित रखना चाहती है और उसकी अंगुली पकड़ कर उसे अनाधिकार ऊपर उठाने का प्रयत्न करना निषेध ठहराती है। ऐसा करने से बालक का भौतिक-विकास, भाव-विकास और नैतिक-विकास सबकी अनुरूप प्रगति होती रहती है और कालक्रम अनुसार उसमें एक प्रतिष्ठित व्यक्तित्व का प्रस्फुटन होता है।

प्रकृतिवादी शिक्षा की चौथी विशेषता शिक्षार्थी की स्वतन्त्रता पर जोर देना है। निःसर्ग नियमों पर आधारित यह शिक्षा पद्धति जब 'प्रकृति की ओर लौटो' (Back to nature) का नारा लगाती है, तो स्वभावतः ही स्वतन्त्र विचार-वीथि और प्राकृतिक-मानवीय-विकास की पृष्ठभूमि बन जाती है। सच तो यह है कि प्रस्तुत प्रणाली प्रत्येक प्रकार के सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह थी, सभ्यता और शिष्टाचार की दलदलों से छुटकारे की प्रचारक और कृत्रिमता की घोर शत्रु थी। रूसो के मत में उपर्युक्त सभी बन्धन मनुष्य-रचित हैं, भगवान् किसी को बन्धन में नहीं डालते; तो फिर क्या कारण है कि ईश्वर-प्रदत्त वास्तविकता को बलात् मिथ्याडम्बरों में जकड़ा जाए? उसके ग्रन्थ एमील का सर्वप्रथम वाक्य ही उसके अन्तर्दर्शन का परिचायक है, 'प्रकृति के सृजन-कर्ता के हाथ से आने वाली प्रत्येक वस्तु शिवम् है; परन्तु मनुष्य के हाथों उसका ह्रास हो जाता है।' सभ्यता के विकास को भी बन्धन मानने वाला रूसो परिवार, नागरिक, समाज, राज्य, धर्म-भावना और इन चारों के पोषक विद्यालय, सबका विरोध करता है। वह सभ्यता के त्याग और प्राकृतिक

---

1. 'शिक्षण सिद्धान्त के मूलाधार'—जे० एस० राम. प्रकाशक एस० चान्द एण्ड कं० पृ० ७६.

स्थिति की पुनः स्वीकृति का पक्षपाती है, तभी तो वह अपने शिक्षार्थी को नगर के इस सम्पूर्ण कृत्रिम वातावरण से ही दूर रखना चाहता है (ध्यान रहे यहाँ रूसो पर भारतीय पुरातन शिक्षा-पद्धति का कुछ प्रभाव दीख पड़ता है) वास्तव मे हमारी दिखावटी योग्यता हमे सकीर्ण हृदयी बना देती है और हम व्यर्थ की चिन्ता मे डूबे से रह जाते है। रूसो का मत है कि सभ्य व्यक्ति का जन्म, पोषण और मरण सब दासता के वातावरण में होता है। जन्म के समय वह कपड़ो में लिपटा-बँधा रहता है; मृत्यु हो जाने पर कफन मे बन्द किया जाता है और जब तक वह मानव रूप में जीवित रहता है, अनेकानेक विधियो और रीतियो में बन्दी। 'प्राकृतिक वातावरण में रहने पर वह दृढतापूर्वक संताप सहन करता और शान्तिपूर्वक मर सकता है। चिकित्सक अपने औषधि विचार से, दार्शनिक अपने सिद्धान्तो और धार्मिक नेता अपने उपदेशों से उसके हृदय का मान-हरण कर लेते हैं और उसे मृत्यु का स्वागत करने में कायर बना देते है।'[१] प्रत्यक्ष ही प्रकृतिवादी शिक्षा-प्रणाली इन सब बन्धनों, उलझनों और बाधाओं मे मुक्त रह कर अपने शिक्षार्थी को स्वतन्त्र वातावरण में पनपाने पर जोर देती है। 'नगर मानव-जाति की श्मशान है।'[२] पुकारने वाले प्रकृतिवादी विचारक शिक्षार्थियो को नगर के घुटे वातावरण से यदि स्वतन्त्र करने की माँग करें, तो क्या अचम्भा! अस्तु। यह स्वतः निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रकृतिवादी शिक्षा आज तक स्वतन्त्रता को ही लक्ष्य किये रही है। प्रस्तुत प्रणाली की पाँचवी विशेषता इसका बाल-केन्द्रीय (Paidocentric) होना है। यह शब्द सर जॉन एडम्स के द्वारा इस पद्धति को दिया गया है। जो शिक्षा बालक की सहज प्रवृत्तियों की सम्यक् पुष्टि को ही गन्तव्य मानती और बालकों के व्यवहार, आचार, प्रकार आदि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करती है वह निश्चय ही बाल-केन्द्रीय कहलाने की अधिकारणी है।

हम देख चुके है कि जैविकीय मनोविज्ञान पर आधारित प्रस्तुत शिक्षा-प्रणाली मनुष्य की शिक्षा का क्षेत्र और लक्ष्य आदर्शवाद से सर्वथा भिन्न स्थापित करती है। जहाँ आदर्शवाद ने सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के लक्ष्यो को अपेक्षित परियोजित कर उनकी प्राप्ति के साधनो की खोज के उपक्रम किये है, यद्यपि इतने नही जितने लक्ष्यो के लिए, वहाँ प्रकृतिवाद ने केवल मानव की अव्यवस्थित और कच्ची प्रवृत्तियों के

---

१ 'Naturally, man can suffer with constancy and die in peace. It is the doctors with their prescriptions, the philosophers with their precepts and the priests with their exhortations, who abase his heart and make him unlearn, how to die."—Rousseau,

२ "Cities are the graves of human species."

सर्वाङ्गीण संशोधित विकास के लिए अनेक विधियों का प्रतिपादन किया है। प्रकृति के साथ चलने, प्रगतिशील शिक्षा देने, निषेधात्मक और स्वतन्त्रतादायिनी क्रियाओं को शिक्षा का क्षेत्र बनाने आदि की विशेषताएँ सब मुख्यतः विधियों ही की ओर संकेत करती हैं, लक्ष्य गौण रह जाते हैं। तभी तो कुछ आलोचकों का कहना है कि आदर्शवाद और प्रकृतिवाद दोनों एकांगी हैं; दोनों क्रमशः लक्ष्य और विधियाँ प्रदान करते हैं। यदि आदर्श-लक्ष्यों की प्राप्ति प्राकृतिक विधियों द्वारा सम्पन्न की जाए, तो उत्तम है। इससे दोनों पद्धतियों के गुणों का समन्वय होगा और बालक का मनोवैज्ञानिक भाव-विकास जीवन के महान् उद्देश्यों की ओर प्रतिपद अग्रसर होगा। सम्भवतः आधुनिक शिक्षा में किण्डर-गार्टन तथा मॉण्टेसोरी विधियाँ इसी दृष्टिकोण की देन हैं।

सार यह कि प्रकृतिवादी शिक्षा के लक्ष्य हमारी सहज वृत्तियों का संशोधन, पुनर्निर्देशन, व्यवस्था और परिपक्वता है। वैयष्टिक और सामाजिक मूल्यों की प्राप्ति की योग्यता प्रदान करना शिक्षा का कर्तव्य है। यह ठीक है कि प्रकृतिवादी नागरिक और मनुष्य में अन्तर रखता और दोनों के साथ-साथ शिक्षित न हो सकने की रट लगाता है, उसके लिए केवल प्राकृतिक सहज नियमों पर स्वविकसित व्यक्ति ही मनुष्य है, नगर के शिष्ट समाज के प्रभाव में अनेक प्रतिबन्धों में रहने वाला, प्राकृतिक पृष्ठभूमि से रहित व्यक्ति नागरिक भले ही हो, मनुष्य नहीं—परन्तु उसकी यह मान्यता कि प्रकृति के प्राङ्गण में निर्बाध पनपने के बाद मनुष्य इस योग्य हो जाता है कि वह अधिक सबल और भला नागरिक बन सके, तथा जीवन में सब प्रकार के अपेक्षित साधन जुटा सके। उसे नव-डार्विनियन-सिद्धान्त 'योग्यतम ही जीता है' (Survival of the fittest) के अधिक निकट ले आता है। इसके साथ केवल सहज वृत्तियों को ही लक्ष्य बनाया जाना, प्रकृतिवाद को और भी प्राकृतिक बना देता है। रूसो का एमील इसीलिये अपनी प्रारम्भिक शिक्षा नागरिक समाज से दूर जंगल में पूरी करता है। उस संघर्षशील वातावरण में जन्मजात मानसिक वृत्तियों की अधिक पुष्टि होती है, अतः जब वह नगर में लौटता है, तो शिष्ट-जन-समाज से बढ़कर चरित्रवान्, सदाचारी, कर्मठ, चुस्त और साहसी बन चुका होता है।

आइए, अब हम प्रकृतिवादी शिक्षा को पाँच भिन्न भागों में बाँटकर इसका विश्लेषण कर देखें :—

शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा—

समाज, जब अपने आदर्शों को रूढ़िगत बनाकर अन्धविश्वासयुत उनकी पूजा शुरू कर देता है, समय के साथ न स्वयं बदलता है, न अपने जीवन लक्ष्यों में ही परिवर्तन करता है, उसमें पूर्व की दर्प गाथा और दूसरे दिनकर की सेवा के प्रति कृतज्ञता

प्रारम्भ करता है, स्वार्थ-युग में शिक्षक अधिकारियों का भी वशीकरण करने लगता है, और 'सा विद्या या विमुक्तये' को प्रामाण्य-वाक्य बना लेता है, तब शिक्षा क्षेत्र में प्राय: विद्रोह उठा करते हैं, क्रान्तियाँ जगती हैं, प्रतिक्रियाएँ विकसित होती हैं। प्रकृतिवादी शिक्षा भी एक ऐसी प्रतिक्रिया है, जो योरप में पुनर्जागरणकाल की लकीर की फकीरी के विरुद्ध जगी थी। पुनर्जागरण (Renaissance) यद्यपि स्वयं भी धार्मिक संकीर्णता के प्रति विद्रोह था, तो भी रूसो के समय तक आते-आते उसमें सीमाएँ खड़ी हो चुकी थीं। ऐसी सीमाएँ, जिन्हें पार जाना एक साधारण मानव के लिए अति कठिन हो गया था। शिक्षा भी जन साधारण को अपेक्षित सामर्थ्य देने की योग्यता नहीं रखती थी। चारों ओर से घुटे-घुटे वातावरण के विरुद्ध एक चिंगारी भी सुलग रही थी। प्रकृतिवाद के मसीहा रूसो ने भी इस वातावरण की घुटन का अनुभव किया, कठिनाइयाँ सहन कीं और अपने में इतनी सबलता प्राप्त कर ली कि 'एमील' की पूर्ति के साथ ही सुलगती चिंगारी को ज्वाला बना डाला। प्रकृतिवाद खिल उठा। शिक्षा का क्षेत्र बदला, लक्ष्य बदला, केन्द्र बदला और बदल गईं सब स्थापित पद्धतियाँ। स्वयं शिक्षार्थी अर्थात बालक शिक्षा का केन्द्र बना; उसकी सहज वृत्तियाँ, आदतें, इच्छाएँ और चेतन संवेदनाएँ उसकी लक्ष्य। प्रकृतिवादी शिक्षा प्रणाली बालक को मनुष्य का छोटा रूप मानकर उसे बड़े रूप की तैयारी के लिए शिक्षा नहीं देती, बल्कि उसे विकासोन्मुख मनुष्य मानकर उसके वर्तमान रूप की पुष्टि और परिपक्वता पर जोर देती है। शिक्षार्थी सजीव और सचेतन जीव है। उसके अन्तर में चेतन का प्रक्रम नितान्त चलता रहता है। इसमें अनेक प्रकार की सहज वृत्तियाँ, असंख्य अर्जित वृत्तियाँ, कई आवेग, अगणित संवेदनाएँ, विशिष्ट भावनाएँ, वांछित और अवांछित प्रक्रियाएँ तथा वैयष्टिक गुण सब परस्पर टकराते, विफलते, बिगड़ते और बढ़ते हैं। प्रकृतिवाद डी० हॉलबैच के प्राकृतिक सिद्धान्त की तरह शक्ति और पदार्थ की केवल यान्त्रिक क्रिया-प्रक्रिया से ही वनस्पति, पशु और मनुष्यों का सृजन होना स्वीकार नहीं करता। प्रकृतिवादी प्राय: डार्विन के पीछे चलते हुए निर्माण और विकास को वातावरण की यान्त्रिक प्रकिया न मानते हुए, उसे वातावरण के विरुद्ध आन्तरिक प्रतिक्रिया मानते है।[१] अतः विद्यार्थी की मनस्-शक्तियों की सबलता ही

---

१. "In D'Holbach's system of nature, matter and force, by mere mechanical action, produce plants, animals and men. Under the leadership of Darwin, it is no longer mechanical action of the environment, but internal reaction against environment, that produces development."—

W. H. Payne in the introduction of Emile.

प्रकृतिवाद का लक्ष्य बन जाता है । मनरो का उद्धरण देते हुए रॉस ने रूसो द्वारा उद्घोषित विचार इस प्रकार रखा है कि 'शिक्षा का सारे का सारा प्रयोजन, प्रक्रम और साधन बच्चे के जीवन और उसके अनुभव के बीच ही मिल जाते हैं ।' प्रकृतिवादी विचारक क्योंकि बालक को ईश्वर के घर से आया उत्तम जीव मानते हैं, उसके निःसर्ग स्वरूप को हितकारी स्वीकार करना उनके लिए स्वाभाविक ही है । परन्तु जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं कि मानवीय हस्तक्षेप से ईश्वरीय नियम् का ह्रास हो जाता है (रूसो), बालक की प्रकृति में किसी प्रकार की अपेक्षित विशिष्टता पनपाने का प्रयत्न प्रस्तुत सिद्धान्त को मान्य नहीं । यही कारण है कि प्रकृतिवाद बालक की शिक्षा में अध्यापक द्वारा उसे प्रभावित किया जाना, बल प्रयोग द्वारा कुछ सिखाना, उसे उपदेश, आदेश या संकेत द्वारा संशोधित करना आदि क्रियाओं की भी जरूरत नहीं समझता । उसके लिए अध्यापक बालक की प्राकृतिक क्रियाओं का मौन-प्रेक्षक (Silent Observer) है । उसकी स्वाभाविक साधनाओं की रक्षा करना अनिवार्य समझा जाता है, इसीलिए उसकी (बालक की) शिक्षा का सम्यक् प्रबन्ध बन्धन में नहीं, स्वतन्त्रता में है । शिक्षार्थी परिस्थितियों की चपेट में संघर्ष करता हुआ जितना एक दिन में सीख सकता है, उतना मास भर के उपदेश और निर्देश से नहीं सीखता । अतः 'बालक जो है, उन्हें वही रहने दो, कुछ और बनाने का प्रयत्न न करो' ऐसी प्रकृतिवादियों की मान्यता है। इनके लिये शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं, स्वयं जीवन है । शिक्षार्थी जिस जीवन में विचरण कर रहा है, वही उसकी शिक्षा है । प्रकृतिवाद शिक्षार्थी की आगामी परिस्थितियाँ सुधारने या उन्हें नवरूप देने की अपेक्षा, पृष्ठभूमि में रहते हुए उसके वर्तमान का सम्यक् संशोधन कर, आन्तरिक शक्तियों के पनपने का सुअवसर देना है । यही उसकी महानता है । प्रकृतिवादियों का कहना है कि प्रकृति, जो परम सत्य है, बालक को मनुष्य बनने से पहले बालक बनाती है । फिर क्या कारण है कि उसके कार्य में हस्तक्षेप कर हम बालक से वयस्क व्यक्ति के गुणों की आशा रखें और उनके अभाव में उसे अपनी वर्तमान स्थिति का त्याग कर नव-स्थिति में बलपूर्वक विकसित होने को बाध्य करें ? ऐसे में वह शिक्षा तो नितान्त अनीति-संगत होगी, जो एक अनिश्चित भविष्य के लिए बालक का सुख, आराम और खेल अवरुद्ध करके उसमें बलात् परिवर्तन लाने की कोशिश करे, और फिर कौन जानता है कि सचमुच भविष्य में उसे वे इच्छित सुख मिलेंगे भी या नहीं ? अतः शिक्षा शिक्षार्थी के प्राकृतिक-परिवर्द्धन का पोषण-मात्र है, और सच्ची शिक्षा तब होती है, जब बच्चे की प्रकृति, शक्तियों और प्रवृत्तियों को न्यूनतम पथ-प्रदर्शन करते हुए, बाधाहीन रूप से परिवर्द्धित होने दिया

जाता है ।"[1] शिक्षा के लिए वालक को स्कूल की चारदीवारी में वन्दी वनाने की आवश्यकता नहीं। उसे अपनी रुचि और इच्छानुसार कार्य करने की पूरी छूट होनी चाहिए। प्रकृतिवाद शिक्षा को वर्गवद्ध क्रिया कदापि स्वीकार नहीं करता। प्रत्येक वालक अपने में व्यष्टि है। यह कोई आवश्यक नहीं कि उसकी इच्छाएँ और रुचियाँ अन्य वालकों से मेल खाएँ। वालक की चंचलता भी व्यक्तिगत है। कोई नहीं जानता कि कव कौनसा वालक क्या चाहेगा। अतः प्रकृतिवादी विचारक स्कूलों की समय-सारणियों, कक्षा-पद्धतियों, विषयों के रूढिवादी अध्यापन आदि सवको आवश्यक और हेय मानता है। उसके मतानुसार वालक की शिक्षा उसकी अपनी इच्छित क्रियाओं द्वारा प्राप्त अनुभवों पर आश्रित होनी चाहिए। इतना ही नहीं, प्रकृतिवाद तो यह भी कहेगा कि वालक को इच्छानुसार ग़लत कार्य करते हुए भी मत रोको। वह स्वयं ठोकर खाकर लौटेगा। प्रकृति जहाँ ठीक मार्ग पर चलने वाले को सिखाती है वहाँ ग़लत कर्म करने वाले को दण्ड भी स्वयमेव ही देती है। परन्तु नहीं, हम इससे सहमत नहीं हो सकते। अध्यापक को इतना सुप्त प्रेक्षक नहीं होना होगा, अन्यथा अनुकरण-वृत्ति-धारी वालक वड़ों को क्षौरकर्म (दाढ़ी वनाना) करता देख कर यदि कहीं खेल में उस्तरा अपनी गर्दन पर चला वैठा और 'प्राकृतिक दण्ड' स्वरूप उसकी मृत्यु हो गई तो क्या कभी उसे अनुरूप दण्ड कहा जा सकेगा ? अतः निषेधात्मक-पद्धति का आश्रय लेने वाले अध्यापक को, प्रेक्षक होते हुए भी, ऐसी स्थिति में, कम से कम वालक का प्रतिरोध करना ही होगा।

उपर्युक्त वर्णन में हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवादी शिक्षा वालक की प्रवृत्तियों पर आधारित है, और क्योंकि समय तथा स्थान के परिवर्तन से प्रवृत्तियों और रुचियों में परिपक्वता और परिवर्तन आता चला जाता है इसलिए उसके साधन (शिक्षा) में भी कुछ प्रगति होनी ही चाहिए। इसी मान्यता से पराभूत हो, रूसो ने पुरुष की शिक्षा को एमील' में चार भागों में वांटा था। पहली स्थिति शिशु-जीवन से पाँच वर्ष की आयु तक रखी गई थी। यह स्थिति आधारशिला है। इसमें वालक की नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त किसी प्रकार का वाहिरी परिवर्तन रूसो को सह्य नहीं। वह वालकों को शारीरिक सुदृढ़ता प्रदान करना चाहता है। वह नहीं चाहता कि उनको हर समय गर्म कपड़ों और टोपी-मोजों में लपेट कर निर्वल वना दिया जाए। उसके मत में 'दुर्वलता ही दुष्टता की जन्मदायिनी है। वालक केवल निर्वल होने के कारण ही अनैतिक होता है। उसे पुष्ट वनाओ और देखो कि वह

---

१. जे. एस. रॉस. शिक्षा-सिद्धान्त के मूल-आधार पृ० ७७.

बुराई छोड़ देगा। जो सब कुछ कर सके वह कभी बुरा नहीं करता।"[1] इस अवस्था में बालक की वे आवश्यकताएँ जो पूरी हो सकें; शीघ्र पूरी कर देनी चाहिएँ और शेष की भरपूर अवहेलना आवश्यक है। यदि बालक उस पर रोये-चिल्लाए, तो उसे पुचकारना भी नहीं चाहिए, अन्यथा आवश्यकता-पूर्ति के अभाव में पुचकार प्राप्त करने के लिए ही वह रोया करेगा। पाँच वर्ष तक बालक को सुने हाथ पैर मारने दो। उसकी जिद् की उपेक्षा करो। बलपूर्वक बोलना, चलना और करना सिखाने की उसे आवश्यकता नहीं, इससे उसकी नींव कमजोर रह जायेगी।

दूसरी स्थिति पाँच वर्ष की आयु से बारह वर्ष की आयु तक है। इस आयु में बालक को शारीरिक सबलता प्रदान करनी है। 'सबल शरीर में सबल मन होता है' को चरितार्थ करने के लिए रूसो बालक को शिक्षा के क्षेत्र में ले चलने से पूर्व पूर्णतः सुदृढ़ और बलवान् बना लेना चाहता है। यह बालक की स्वतन्त्र परिसीमा है। वह कुछ भी करे, आप उसे मना नहीं करेंगे। हानिकारक स्थिति से उसे किसी प्रकार के तर्क बिना रोकिए और योग्य कार्य के लाभ बताए बगैर उसे वह कार्य करने दीजिए। ऐसा करने से वह अपने निर्णयों और परिणामों पर पहुँचेगा। 'बालक की वर्तमान् स्थिति की शिक्षा निषेधात्मक होगी। इसमें सद्गुण और सत्यों के रहस्य नहीं पढ़ाए जायँगे, बल्कि बालक के हृदय को बुराई और मन को गलत भावना से बचाना होगा।'[2] शिक्षार्थी को किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए; प्राकृतिक परिणाम ही दण्ड बनने दो। तर्कावस्था प्राप्त करने से पूर्व बालक को विचारों की उपलब्धि नहीं होती। उसे केवल सजीव बातों की प्रतिछाया (Image) ही मिलती है। विचार सदैव अन्यों से सम्बद्ध होता है, परन्तु प्रतिछाया व्यक्तिगत। अतः उसे लम्बे झंझटों में मत फंसाओ। छोटी बातें उसे समझने और सोचने दो। अब बालक को पढ़ने की आदत भी डाली जा सकती है। रूसो का मत है कि यदि बालक को कोई आनन्दामन्त्रण देरी से पढ़कर बताओ, तो वह निश्चय ही अवसर चूक जाने पर दुःखी होगा और स्वयं पढ़ने की इच्छा रखेगा। उसे प्रकृति से अपने दैनिक पाठ लेने दो। वह निर्देशन की अपेक्षा तथ्यों से अधिक सीखेगा।

---

१. "All wickedness comes from weakness. A child is bad only because he is weak; make him strong and he will be good. He who can do everything, does nothing bad"—Emile.

२. "The first education ought to be purely negative. It consists not at all in teaching virtue or truth, but in shielding the heart from vice and the mind from the error."—Emile, from 5 to 12.

शारीरिक-अवयवों की पुष्टि के लिए उसे व्यायाम करवाओ। उसे साफ़ और सरल भाषा बोलने का अभ्यास दो। परन्तु ध्यान रहे, उसे कभी आज्ञा न दी जाए। व्यवस्थित पाठ्य सामग्री से भी पथ्य ही उत्तम होगा। इस अवस्था में बालक को ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा, अवयव संचालन तथा क्रिया-शीलता की ओर प्रवृत्त करो। उसे अपने आश्रित मत बनाओ, स्वयं करने दो। बचपन का आनन्द उसे भोगने दो जितना सम्भव हो सके उसे इन सरल सुख की अवधि बढ़ाने दो।

तीसरी अवस्था बारह से पन्द्रह वर्ष की आयु की है। अब बालक अपने को चारों ओर से आवश्यक वस्तुओं में घिरा पाता है। उसे फालतू कल्पना नहीं करनी पड़ती। किसी की सम्मति से वह अकस्मात् हिल नहीं जाता। वह जो कुछ कर सकता है, उसी तक उसकी इच्छाएं सीमित रहती हैं। वह अपने को पर्याप्त शक्तिशाली ही नहीं समझता, बल्कि अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति का सामर्थ्य भी उसमें आ चुका है। जीवन में ऐसी स्थिति फिर कभी नहीं आने की। बस यही समय है, उसके लिए परिश्रम का, शिक्षा-प्राप्ति का, अध्ययन तथा पर्यवेक्षण का। इस अवस्था में शिक्षार्थी का ध्यान प्राकृतिक-प्रक्रम की ओर आकृष्ट करो, उसके अन्दर कौतूहल जगेगा। भड़कने दो उसे, जल्दी से शान्त मत करो। ग़लतियों का सुधार करने में भी जल्दी मत मचाओ। उसे स्वयं समझने दो कि उसने ग़लती की है। यदि वह ग़लती न करेगा तो इतनी जल्दी और भली प्रकार सीख भी नहीं सकेगा। शिशु जीवन में समय लम्बा था और बालक को बुराई से बचाने के लिए जानबूझकर उसे नष्ट हो जाने दिया गया, परन्तु यहां परिस्थिति उल्टी है। समय कम है, सीखना अधिक और वह भी स्वानुभव द्वारा। अतः खाते-पीते, उठते-बैठते प्रत्येक क्रिया की तह तक पहुँचने के लिए उसमें कौतूहल जगाए जाओ। उसके प्रश्नों का ऐसा उत्तर दो कि वह अधिक उत्तेजित हो उठे। सन्तुष्ट न हो जाए। रौबिनसन क्रूसो सरीखी कहानियाँ पढाओ, ताकि उसमें जीवन संघर्ष की सबल प्रेरणा पैदा हो। इसी अवस्था में शिक्षार्थी को कोई न कोई कौशल भी सिखाना चाहिए। परन्तु ऐसा जिसमें उसकी रुचि हो। रूसो के ख्याल में नवयुवक को दर्जी की शिक्षा नहीं देनी चाहिए। अब तक विद्यार्थी प्रतिछाया प्राप्ति की स्थिति में था। परन्तु अब वह विचार भी करने लगा है। पहले वह केवल महसूस करता था, अब निर्णय भी करता है। वह परिश्रमी, सहनशील, धैर्यवान्, विश्वस्त और साहसी बन चुका है। वह बुराईयों से दूर है। क्योंकि भाग्यवाद में उसका विश्वास नहीं, इसलिए वह शान्तिपूर्वक संताप भी सहन करेगा। यद्यपि वह मृत्यु की जानकारी नहीं रखता, तथापि उसने प्रकृति के नियमों के सम्मुख झुकना सीखा है, इसलिए वह बिना किसी शिकायत या शोक के मृत्यु को भी स्वीकार कर लेगा।

चौथी स्थिति पन्द्रह वर्ष से बीस वर्ष की आयु है। पन्द्रह वर्ष तक 'एमील' (शिक्षार्थियों का प्रतिनिधि) इतना कुछ सीख चुका है, कि उसके मानस की पुष्टि अब सामाजिक और नैतिक नियमों की शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर चुकी है। अब वह नागरिकता का पाठ पढ़ेगा, व्यवसाय में सफलता के नियमों का अध्ययन करेगा तथा श्रेष्ठ जीवन के साधनों की पृष्ठभूमि जुटाएगा। इस अवस्था में उसे यौन-शिक्षा का सविस्तार स्वरूप मिलना ही चाहिए। अब आप गलती करने से पूर्व भी उसे चेतावनी दे सकते हैं, परन्तु फिर भी यदि गलती कर बैठे, तो उसे जतलाओ नहीं। लाक्षणिक भाषा में भविष्य के लिए उसे चेतावनी दो। ये लाक्षणिक-उद्धरण वय-संधि की संवेदनाओं और बुद्धि के अनुरूप ही होने चाहिए। इस आयु के व्यक्तियों में वाचन, अकेलापन, निकम्मापन, लक्ष्यहीन लंगड़ा जीवन आदि बड़ी खतरनाक स्थितियाँ हैं। नवयुवक के साथ अर्थ का तर्क मत लड़ाओ, उसे उदाहरण का वेष प्रदान करो।

युवक शिक्षार्थियों की शिक्षा का उपर्युक्त प्राकृतिक स्वरूप प्रस्तुत करने के बाद, प्रकृतिवाद का प्रधान विचारक रूसो, लड़कियों की शिक्षा की ओर झुकता है। न मालूम क्यों, जो रूसो लड़कों की शिक्षा में इतना विशाल हृदयी दिखता रहा, वह यहाँ आते आते इतना संकीर्ण क्यों हो गया। रूसो का मत है कि मनुष्य को अकेले नहीं रहना चाहिए। उसे जीवन की पूर्ति प्राप्त करने के लिए अपना साथी ढूंढना ही होगा, जो निश्चय ही विपरीत जाति का हो। अतः क्योंकि मनुष्य का साथ स्त्री से होना है और दोनों ने मिलकर अधूरेपन की पूर्ति करना है, प्रकट ही स्त्री की शिक्षा उस अधूरेपन की पूरक होनी चाहिए, जो पुरुष की शिक्षा में रह गया है, स्त्री माता है, गृहिणी है, प्रेरणा और आकर्षण है। अतः इन्हीं चार अवलम्ब-शिलाओं पर स्त्री की शिक्षा आश्रित होनी चाहिए। उनमें रूप, गुण, व्यवहार आदि सब कुछ अनुरूप रूप से विद्यमान होना अनिवार्य है। उसके प्रत्येक कार्य में कोमलता, सुन्दरता और प्रेम भरा होना चाहिए। रूसो का मत है कि वर्तमान स्थिति में जब लड़की गुड़िया खेलती है, उसे अपनी सजीव गुड़िया को प्राप्त करने की प्रतीक्षा करनी होती है। यह युगों से चली आती भावना है। गुड़िया को सजाना, संवारना ही लड़की की शिक्षा का आधार बनता है। जिसमें सीना, काढ़ना, बिनना और सुन्दर नमूने बनाना आदि आता है। लड़कियों को शास्त्रीय अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं। उन्हें आज्ञाकारी और परिश्रमी होना चाहिए। उनमें मातृत्व-भावना का लोप रहना चाहिए। अति का वर्जन और भावुकता पर संयम रखना उनके लिए अनिवार्य है। उनकी प्रथम और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह होनी होगी कि वह पति की ओर से हुए प्रत्येक अन्याय को धैर्यवान और आपत्तिरहित

वदन से सहन कर सके।[1] स्त्रियाँ शीघ्र, सरल और कोमल बोलती हैं। अतः उनकी वार्ता में सरसता का भाव भरने की शिक्षा उन्हें मिलनी चाहिए। लड़की को किसी प्रकार के धार्मिक विचार नहीं मिलने चाहिए। क्योंकि उसका धर्म वही होगा जो भविष्य में उसका पति मानता होगा। स्त्री की योग्यता इस बात में है कि वह अपने गिर्द पुरुषों का अध्ययन कर सके और उनकी आवश्यकताओं को पहचाने। लड़की जो सुन्दर न भी हो तो उसे अपने में ऐसा आकर्षक व्यवहार पैदा करना होगा कि उसकी उपस्थिति में पुरुष सुन्दर स्त्रियों को भूल जाए। (प्रायः सुन्दर औरतें अपने से असन्तुष्ट होती हैं) सोफ़ी (छात्राओं में प्रतिनिधि) इस गुण में प्रवीण है, वह सुन्दर भले ही नहीं, परन्तु आकर्षक है, अपने गुणों और व्यवहार के कारण। वह सादगी पसन्द करती है, सुन्दर पोशाक चाहती है, और उसमें सफल चुनाव कर सकती है। वह गाना, बजाना, नृत्य आदि सब जानती है। उसकी चाल आकर्षक और आवाज़ मधुर है। गृहिणी का कार्य करने में भी वह प्रवीण है। वह साफ़ रहती है। 'संसार में गन्दी रहने वाली स्त्री से अधिक निराशाजनक और कोई वस्तु नहीं और यदि ऐसी स्त्री से उसका पति प्यार न करे, तो वह कभी ग़लत नहीं होगा'।—(रूसो)। सोफ़ी सदाचारी, सद्वृत्ति युक्त, संयमी नारी है। वह सच्चा प्रेम करती है और एक ही प्रेमी से। उसे सारे संसार की शोभा कमाने से कोई मतलब नहीं, वह अपने प्रेमी पर सर्वस्व बलिदान कर चुकी है, और जीवन भर करती रहेगी। उसमें इतनी योग्यता है कि वह पुरुष की निष्कपटता पहचान कर उसे अपना दिल दे सके। वह बड़ों का आदर करती है। छोटों से स्नेह रखती है और साथियों से कोमल और सरस व्यवहार करती है। वह आदर्श पत्नि, वात्सल्य मूर्त्ति माता, आज्ञाकारी बेटी और स्नेहमयी बहिन है।

इस प्रकार रूसो ने शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा के सम्बन्ध में अपने निजी विचार प्रकट किये हैं। कदाचित् आज का प्रकृतिवादी कुछ परिस्थितियों की विवशता और कुछ मनोवैज्ञानिक नियमों में फंसकर शिक्षार्थी (स्त्री और पुरुष) का उपर्युक्त स्वरूप पूर्णतः नीति संगत न माने, परन्तु प्रकृतिवाद के विकास में रूसो के 'एमील' ने जो सहायता दी है, वह कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकती।

---

१. 'The first and most important quality of a woman is gentleness and she ought early to learn to suffer every injustice, and to endure the wrongs of a husband without complaint.'

—*Sophy.*

शिक्ष्य विषय—

अब प्रश्न उठता है कि प्रकृतिवादी छात्र को पढ़ाया क्या जाए ? ऊपर हम स्थान स्थान पर संकेत दे चुके हैं कि प्रकृतिवाद की पुस्तक छपे हुए कागज की नहीं वरन् भौतिक-विश्व का सम्पूर्ण प्राकृतिक प्रांगण ही उसकी पुस्तक है। छात्र को इसी का अध्ययन करना है; अभिप्राय यह कि संसार के सब भौतिक-विज्ञान अनुभव के आश्रय सीखने हैं। रूसो द्वारा प्रस्तुत किये गए उपर्युक्त विद्यार्थी की शिक्षा, उसकी अवस्था के विकास के साथ साथ विकसित होती हम देख चुके हैं। इससे स्पष्ट अनुमान यही लगाया जा सकता है कि शिक्ष्य-विषय भी आयु के वर्गीकरण अनुसार ही प्रस्तुत किये जाने चाहिएं। जिस बालक को समाज से जुदा करके स्वतन्त्रता के कुछ अधिकार दे दिये गये हैं और निजी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इच्छानुसार संघर्ष करने की छूट है, वह कालक्रमानुसार शारीरिक रूप में तो बढ़ेगा ही साथ ही नैसर्गिक-वृत्तियों, सहज-भावनाओं और स्वस्थ-प्रावेगों की परिपक्वता भी प्राप्त करता रहेगा। अतः उसके पाठ्यक्रम के निर्माण में इन्हीं दोनों बातों का आधार लेना अनिवार्य है। इस बात का सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि शिशु, बालक, कुमार, किशोर और युवक सबको विकासशील नियम अनुसार अपेक्षित शिक्षा मिल सकेगी।

रूसो कुमारावस्था तक की आयु को बड़ी अस्थिर और खतरनाक मानता है। उसके विचार में, इस आयु में दी गई शिक्षा बालक के सुधार की अपेक्षा, बिगाड़ का कारण अधिक बन सकती है। अतः यदि इस अवधि को यों ही नष्ट हो जाने दिया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा, बस शर्त यह है कि प्रेक्षक रूप में अध्यापक बालक को बुराई के गर्त में गिरने से बचाता रहे। वह पृष्ठभूमि में रहता हुआ ऐसा वातावरण प्रस्तुत करे, जिसमें बालक बुराई से बचा रहे और दैनिक क्रियाओं की शिक्षा लेता हुआ अपना समय समझदारी से बिता सके। यही रूसो की निषेधात्मक शिक्षा है। इस काल में वह व्यायाम में रुचि लगाए, ऐन्द्रिय-परिपक्वता प्राप्त करे, खेले और उचित कल्पना-जगत् में विचरण करे और अपने को पुस्तक की परिधि से बाहर रख कर पुस्तक-अध्ययन के लिए तैयार करे। इस अवस्था में बालक को पाठ्यक्रम-अनुसार शिक्षा नहीं दी जाएगी, बल्कि दैनिक-जीवन के प्रत्येक कार्य में उसकी रुचि सजीव बनाई जाएगी। यही रुचि उसके अन्दर में कौतूहल बन कर उसे आगामी-अवस्था में शिक्षा प्राप्ति की ओर प्रेरित करेगी। बालक के मन को बलात् किसी साँचे में नहीं ढाला जाएगा। जब तक बालक मानसिक स्तर में पूर्णतः स्वस्थ न हो जाए, उसे शिक्षा लेने को बाधित करना, उसे दिल दिखाने के बराबर होगा। अतः उसे पुस्तकों की शिक्षा मत दो, उसे खेलने दो, कूदने-फाँदने और प्राकृतिक-स्वतन्त्र रहने

दो। मत सोचो कि इससे उसका समय नष्ट होगा; यही नष्ट हुआ समय वास्तव में उसका उचित प्रयोग है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भले ही सहमत न हों, परन्तु रूसो के विचार में बारह वर्ष तक की अवस्था में बालक के अन्दर भौतिक पदार्थों की प्रतिछायाएं होती हैं, उनके विचार नहीं। विचार सदैव एक दूसरे से सम्बद्ध और सूत्र रूप में चलता है, परन्तु प्रतिछाया या बाहरी वस्तु का मानस-पटल पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब प्रायः पृथकता की विशेषता लिए होता है। इसीलिए रूसो उन प्रतिबिम्बों के प्रति बालक के अन्तर में उत्सुकता जगाने पर जोर देता है, विचार करने पर नहीं। धीरे धीरे सांकेतिक उत्सुकता या कौतूहल स्वभावतः ही शिक्षार्थी में विचार करने की आवश्यकता का अनुभव करवाता है और वह विचार जगत में प्रवेश करता है। ध्यान रहे कि इस अवस्था तक प्रकृति से दो चार होने पर पैदा होने वाले परिणामों में नियन्त्रण रखने के अतिरिक्त, बालक को कोई नैतिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए।

अब विद्यार्थी के जीवन में दूसरा युग शुरू होता है। वह इतना अनुभव कर चुका है कि नियमित अध्ययन को भी अब बिना विरोध स्वीकार करने को तैयार है। इस काल में उसे सब प्रकार के भौतिक-विज्ञान पढ़ाए जा सकते हैं। गणित, ज्यामिति, भूगोल, इतिहास, भाषा, साहित्य आदि का ज्ञान भी उसे इस स्थिति में करवाया जा सकता है; लेकिन इन सब के साधन भिन्न होंगे। जहाँ तक सम्भव हो सके विद्यार्थी के ज्ञान को क्रियाशीलता पर आश्रित रखो। उसे निर्देश देने की बजाए वास्तविक परिस्थिति में रखो; वह अधिक सीख सकेगा। प्रकृति के परिवर्तन की ओर उसका ध्यान दिलाओ, वह स्वयमेव खगोल और पदार्थ-भूगोल की नींव रखेगा। जैसा कि हम पहले भी लिख चुके हैं कि बालक को पाठ्यक्रम के अतिरिक्त किसी व्यावसायिक-शिक्षा की ओर भी प्रेरित करते रहो। इससे दो मुख्य लाभ होंगे—एक तो विद्यार्थी जीवन के पश्चात् आजीविका का साधन बना रहेगा और दूसरे छात्र में निष्क्रियता नहीं आ पाएगी। वैषयिक-शिक्षा पूर्ण कर लेने के बाद, शिक्षार्थी को जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों की शिक्षा मिलनी अभी और रहती है। समाज से जुदा रखे हुए उस प्रकृतिवादी छात्र को अब समाज में आना है, उसे सामाजिक बनना है। देश का नागरिक और जाति का प्रतिनिधि बनने जा रहा है वह। अतः उसे नागरिक शास्त्र, समाज-शास्त्र तथा नीति-शास्त्र का सम्यक् ज्ञान करवाना अनिवार्य है। नागरिक के अधिकार व कर्तव्य, समाज के प्रति उसके कर्तव्य और दूसरों के प्रति उसका व्यवहार तथा दृष्टिकोण आदि सम्यक् स्थिति तक पहुँचाने के लिए, उसको विशाल हृदयता का पाठ मिलना ही चाहिए। इतना ही नहीं अब उसमें श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और विश्वास की भावनाओं की भी अपेक्षा है। अतः यदि इस अवस्था में उसे धार्मिक शिक्षा

भी दी जाए तो कोई बुराई नहीं । अब वह निश्चय ही धर्म की गम्भीरता और विशेषताओं को समझने की क्षमता प्राप्त कर चुका है । इस प्रकार प्रकृतिवादी शिक्ष्य-विषय अवस्था के स्तर के अनुसार बदलते रहते हैं और आवश्यकतानुसार छात्र की अभिरुचियों को लक्ष्य बना कर उसके लिए विद्या का मार्ग खोल देते हैं।

प्रकृति-वादी शिक्षण-विधियां :—

अवस्थानुकूल शिक्ष्य विषयों की परियोजना की जानकारी प्राप्त हो जाने के बाद उन विषयों को सिखाने की विधियों का अनुमान लगाना कठिन नहीं रह जाता। जो शिक्षा-दर्शन बालक की क्रियाओं के विकास तथा सहज-वृत्तियों की परिपक्वता पर जोर देता हुआ, उसके लिए उचित पाठ्य सामग्री की खोज करने में तल्लीन दीख पड़ता है, निश्चय ही उसकी विधियाँ मनोवैज्ञानिक परिधि से बाहर भी नहीं हो सकती। प्रकृतिवाद का सक्रिय प्रणेता रूसो, अध्यापक के केवल प्रेक्षक होने पर जो बल दे चुका था, वह वास्तव में शिक्षा की मनोवैज्ञानिक-पद्धति का श्रीगणेश ही था। प्रकृतिवाद ने यह आवश्यक माना कि पुस्तकों के पचड़े में पड़े रहने की अपेक्षा अध्यापक को साक्षात् बालक का ही अध्ययन करना चाहिए। उसकी अभिरुचियां, वृत्तियाँ, स्थायी और अस्थायी भाव, भड़कने वाले आवेग, सदैव गतिशील चेतना-प्रवाह, संवेदन युक्त क्रियाएं, विविध वाञ्छाएं आदि का पूरा ध्यान रख कर ही बालक को शिक्षा की ओर उकसाया जा सकता है; वहीं प्राकृतिक-शिक्षा का जन्म होगा; अन्यथा बलात् साधनों द्वारा दी गई शिक्षा केवल बालक पर ही नहीं, बल्कि उसके चारों ओर के वातावरण पर भी बोझ सरीखी बन पड़ेगी। मनोवैज्ञानिक-भित्ति पर शिक्षण कला की स्थापना ही प्राकृतिवाद की सबसे बड़ी देन कही जा सकती है। शिक्षार्थी के व्यक्तित्व (Personality), आचरण (Conduct), चरित्र (Character) आदि का सुनिर्माण मनोविज्ञान द्वारा ही सम्भव है। और क्योंकि प्रत्येक बालक अपने में व्यष्टि है, अपनी निजी रुचियों, क्रियाओं और वाञ्छाओं के अनुसार गतिशील रहता है, उसकी शिक्षा का प्रबन्ध, वर्गानुक्रमण से कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। प्रकृति-वादी शिक्षा के प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक ढर्रे से ही प्रत्येक छात्र को पृथक् इकाई मान कर उसकी व्यक्तिगत शिक्षा का समर्थन किया गया है। सच पूछा जाए तो रूसो द्वारा शिक्षार्थी का अवस्था-विभाजन उसकी बढ़ती हुई रुचियों का ही द्योतक है। और निश्चय ही उसके मूल में व्यष्टित्व छिपा है, समष्टित्व नहीं। अतः बाल मन में जगने वाले कौतूहल और परिवर्तन के अनुसार मनोविज्ञान ने विषयों में क्रमबद्धता तथा अवस्थानुकूल स्तर-बद्धता का जो आह्वान किया है वही प्रकृतिवाद की सार्थकता कही जानी चाहिए। इतना ही नहीं, प्रकृतिवादी शैली द्वारा

मनोविज्ञान पर दिया गया। वह कई स्थानों पर बालक के मानसिक संघर्ष या मानसिक-अस्वस्थता के उपचार का साधन भी बन जाता है। मनोविश्लेषण पद्धति ने अध्यापक के लिए बालक के अचेतन मन के अध्ययन के साथ साथ अवचेतन-मन की जानकारी भी सम्भव बना दी है। आज का प्रगतिवादी अध्यापक, बालक की शरारती प्रवृत्ति को डंडे के जोर से कुचलने की अपेक्षा उसकी तह तक पहुँचकर उसके 'कारण' का पता लगाने का प्रयास कर रहा है। किसी विशिष्ट पाठ में बालक द्वारा प्रगति न कर सकने पर उसे दण्डित करने की अपेक्षा, वह उसकी बुद्धि का माप (Measurement of intelligence), या बुद्धि-सम्बन्धी परीक्षण (Intelligence test) कर, उसका स्तर निर्धारित कर लेता है और ठीक उसी प्रकार शिक्षा की मात्रा देता चला जाता है, जिस प्रकार डाक्टर रोगी की पाचन शक्ति का अनुमान कर उसके पथ्य में परिवर्तन करता रहता है। प्रकृतिवाद बालक की गलतियों, शरारत या उद्दण्डता को दण्ड का विषय न मान कर, करुणा का विषय मानता है, और प्रायः उनका उपचार मारपीट से नहीं, प्यार और मनोवैज्ञानिक साधनों से करता है। स्पष्ट ही शिक्षा क्षेत्र में प्रकृतिवाद द्वारा प्रस्तुत की गई मनोवैज्ञानिक-शैली आज अतीव लाभकारी प्रमाणित हो रही है। बालक के लिए तो यह वरदान ही बन गई है।

प्रकृतिवाद शिक्षा क्षेत्र में, क्योंकि, बालक के बालपन को विशेष महत्त्व देता है, वह उसकी खेल-प्रवृत्ति की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता। रूसो तो बालक के मनुष्य बनने से पहले, उसे पूर्ण बालक रूप में देखना चाहता है और उसका मत है कि बच्चों का खेल काल जितना बढ़ाया जा सके, उतना ही उत्तम है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं, कि उसे बालक का समय नष्ट करने में कुछ विशेष आनन्द मिलता होगा; वह तो इसे 'समय का व्यर्थ गंवाना' मानता ही नहीं। बालक खेल-खेल में वह सब कुछ सुगमता-पूर्वक सीख लेता है, जो वह कोरे व्याख्यानों या निर्देश से युगों में भी सम्भवतः न सीख सके। खेल विधि का सबसे बड़ा लाभ 'बालक की प्रकृति की जाँच' है। बालक जो कुछ खेलता है, जो कुछ करता है और जैसी अभिरुचियाँ रखता है, वे सब उसके स्वभाव तथा निसर्ग की परिचायक होती हैं। खेल के सम्बन्ध में मिलने वाले शास्त्रीय सिद्धान्त चाहे खेल को कुछ भी मानें— अतीत संस्कृति की झलक, भावी जीवन का स्वरूप या फालतू शक्ति का व्यय— परन्तु यह एक तथ्य है कि बाल क्रीड़ा, प्रकृति द्वारा शिक्षा दिये जाने का एक सबल साधन है। यही कारण है कि प्रकृतिवादी विचारक खेल को एक महत्वपूर्ण विधि स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार, खेलने के ढंग चाहे कैसे भी हों उनमें बालक को पूरी स्वतन्त्रता अवश्य रहनी चाहिए। बालक को किसी विशेष खेल के लिए विवश नहीं करना चाहिए। जिस वस्तु में भी उसे आकर्षण हो उसे वहीं उलटने

पलटने दो। टूट जाने पर उसे डांटो या मारो नहीं। बालक की जिज्ञासा वृत्ति कभी कभी किसी कौतूहल-वर्द्धक वस्तु को तोड़कर उसके अन्दर झांकने को उसे प्रेरित करती है और वह पदार्थ का भंजन करके देखने की चंचलता संवरण नहीं कर पाता। इसमें भी वह कुछ सीखता है, धीरे धीरे उसके विचारों में पुष्टि आती है, और अपने कौतूहल को शान्त करने के लिए वह स्वयं अनुसंधानक बन बैठता है। स्वतन्त्रता के अतिरिक्त बाल-क्रीड़ा का दूसरा गुण विधि-प्रयोग के साथ अपेक्षित वातावरण जुटाना होगा। इसकी आवश्यकता बालक के ज्ञान में क्रम-बद्धता स्थापित करने के लिए पड़ती है। इससे विद्यार्थीगण स्वतन्त्रता पूर्वक ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा (Sense training), अवयवों की पुष्टि तथा विकास ग्रन्थियों की सम्यक् व्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं। आधुनिक विचारकों में खेल-विधि का सर्वोत्तम और व्यवस्थित प्रयोग फ्रॉबिल और मॉण्टेसोरी ने सफलता-पूर्वक किया है। दोनों महानुभावों ने खेल में स्वतन्त्रता प्रदान करने के साथ साथ अपेक्षित वातावरण भी जुटाया है। सम्भवतः यही कारण है कि ये दोनों पद्धतियाँ उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर अग्रसर हैं।

बालक को उपरि कथित ढंग से स्वतन्त्रता देने वाली प्राकृतिक शिक्षा प्रणाली स्वभावतः ही रूसो के स्वर में स्वर मिला कर 'शब्द नहीं वस्तुएँ चाहिए' का राग अलापती है। शाब्दिक शिक्षा की अपेक्षा छात्र को व्यावहारिक और क्रियात्मक शिक्षा देना श्रेय माना जाता है। इससे बालक सक्रिय रहता है। वह निजी महत्व आंकता है और स्वतः अनुभव द्वारा सीखता रहता है। यह स्वानुभव की विधि प्रकृतिवाद के सजीव और प्रेय दर्शन पर आधारित है। क्योंकि प्रकृतिवादी शिक्षा का केन्द्र बालक की नैसर्गिकता है, और बाल-निःसर्ग-नियमों में कौतूहल एक अनिवार्य सा भाव है, प्रकट ही वह बताये जाने पर नहीं, करके देखने पर सीखने में अधिक आनन्द लाभ करता है। बच्चे को कितना समझाओ कि आग को नहीं छूना, वह जलाती है, वह जब तक एक बार उसे छू कर, जलन अनुभव करते हुए, अपने कौतूहल को शान्त नहीं कर लेता, मानता नहीं। यही कारण है कि बाल-मनोविज्ञान को दृष्टि में रखने वाली प्रकृतिवादी-पद्धति बालक की इस वृत्ति को पहचान कर उसके लिए प्रत्यक्ष ही अनुभव द्वारा सीखने की विधि को अपनाती है। कौतूहल तुष्टि के अतिरिक्त इस विधि का एक लाभ और भी है। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ बालक का ज्ञान स्थायी और गम्भीर होता है। प्रकृतिवाद की मान्यता है कि छात्रों को पढ़ाए जाने वाले लगभग सभी विषय स्वानुभव पर आश्रित होने चाहियें। इसी दृष्टि-बिन्दु को सम्मुख रखते हुए आजकल स्काउट या बालचर की स्थिति अधिक पसन्द की जा रही है। विद्यार्थियों को विज्ञान का ज्ञान देने के लिए भाषण-पद्धति कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकती। अच्छा हो यदि छात्र स्वयं प्रयोगशाला में जाने

देने का पक्षपाती है। इसमें सन्देह नहीं कि रूसो एमील के समाज से दूर रखे जाने की सिफारिश करता है, परन्तु क्या यह सच नहीं कि समाज और नगर से दूर रख कर भी उसे जो शिक्षा दी जा रही है, वह उसमें सामाजिक और नागरिक बनने की योग्यताओं के प्रतिपादन के लिए ही है। क्या उसने भी १५ वर्ष की आयु तक वैषयिक शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद विद्यार्थी के लिए समाज-प्रवेश अनिवार्य नहीं समझा? और फिर वह उसके निजी, आरम्भिक बिखरे हुए विचार थे। समय की गति के साथ साथ जब प्रकृतिवाद उन्नत होता चला गया, नये नये विचारकों ने इस क्षेत्र को अपनाया और रूसो के बिखरे विचारों तथा कालान्तर आवश्यकताओं को व्यवस्थित कर एक सूत्र में बांधा, तो उन्होंने महसूस किया कि समाज से बाहर जाकर भले ही विद्यार्थी अधिक स्वानुभव कर सके, परन्तु वह एक अच्छे सामाजिक के गुणों का संचार कदापि नहीं कर सकता। अतः इसी विचार द्वन्द्व में पेस्तॉलोजी की शंख-ध्वनि गूंज उठी, 'बालक समाज का अंग है, उन्हें परिवार में रहते जो प्यार मिलता है, वही उनकी सहज वृत्तियों की पुष्टि का प्रसाधन है' और 'विद्यालय भी प्यार के घर होने चाहिएं, जहां विद्यार्थी घर का सा वातावरण प्राप्त कर परस्पर प्रेम बढ़ा सके, वही बालक की श्रेष्ठतम सामाजिक शिक्षा होगी।' इस ध्वनि में अन्य सब टर्राहटें खो गईं और प्रकृतिवाद के क्षेत्र में लगभग यह स्वीकार ही कर लिया गया कि बालक को विद्यालय में भी सामाजिक वातावरण मिलना चाहिए—भले ही वह विद्यालय बाहरी समाज से दूर हो। सम्भवतः इसीलिए प्रकृतिवादी प्रयोगों में अधिकतर निवास युत विद्यालयों पर आस्था जतलाई गई है। वहीं रहकर विद्यार्थीगण सामाजिक जीवन के एक संशोधित और आदर्श स्वरूप का निजी-अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। रॉस का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में रहते दो विशेषताओं की अपेक्षा होती है—एक, वह दूसरों का नेतृत्व करने या उनको अपने पीछे लगाने का सामर्थ्य रखता है और दूसरे, अन्य क्षेत्रों में, स्वयं दूसरों का अनुकरण करने की सबलता उसमें होनी चाहिए। ये दोनों विशेषताएँ एक साधारण सामाजिक को दृष्टि में रखकर बनाई गई हैं। सभी क्षेत्रों में कोई नेता नहीं बन सकता और प्रत्येक क्षेत्र में केवल अनुयायी ही रहना व्यक्ति की दुर्बलता होगी। यही कारण है, प्रकृतिवाद स्कूल को समाज का रूप देकर विद्यार्थियों के लिए आरम्भ से ही नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों का ज्ञान करवाता रहता है। छात्र विद्यालय में रहते हैं, विद्यालय उनका है, वे महसूस करते हैं कि विद्यालय-सम्बन्धी कुछ बातों में स्वतः ही उन्हें कई अधिकार प्राप्त हो गए हैं; परन्तु अधिकार का पूरा लाभ उठाने वाले वे छात्र, इसके अनुरूप विद्यालय के प्रति अपने कर्तव्य भुलाते नहीं। वे समझने लगते हैं कि यदि

विद्यालय उनका है तो वे विद्यालय के हैं। अतः उनका कर्तव्य है कि वह ऐसा दुष्कार्य न करें जिससे विद्यालय के नाम पर धब्बा आए। यहीं से धीरे धीरे जन-समाज के खुले वातावरण के सम्बन्ध में वे अपने अधिकारों और कर्तव्यों की परियोजनाएँ बनाते रहते हैं। विद्यालय में प्रत्येक छात्र को कुछ न कुछ काम सौंपा रहता है, जो उसने दूसरों की सहायता से पूरा करना होता है। वह ऐसा करने में दूसरों की सहायता करता है और स्वयं उनसे सहायता पाता है। पहली स्थिति में वह अनुयायी और दूसरी में नेता होता है। यही अनुभव उसे विस्तृत समाज में परस्पर सहयोग का पाठ पढ़ाता है। वह समझने लगता है कि यदि समाज में दूसरों से सहायता पा जाना उसका अधिकार है तो समयानुसार उनकी सहायता करना उसका कर्तव्य भी है। इस प्रकार के वातावरण में पनप कर वह सचमुच उत्तम नागरिकता के पथ पर अग्रसर होता है।

सामाजिक वातावरण को अधिक से अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए प्रकृतिवाद 'सह-शिक्षा' का भी समर्थन करता है। उसके मतानुसार लड़के और लड़कियों के इकट्ठे रहने, मिलकर कार्य करने तथा परस्पर अधिकारों और कर्तव्यों की पूर्ति करने से वातावरण अधिक सामाजिक हो उठेगा। बाहरी समाज में विद्यार्थी ने परिवार का एक अंग बनकर रहना है; परिवार स्त्री-पुरुष दोनों पर आश्रित है, तो क्यों न स्त्री-पुरुष को आरम्भ से ही इकट्ठे रखकर उनमें एक दूसरे के प्रति अपने अपने कर्तव्यों के पालन की भावना भर दी जाये। इससे कई लाभ हो सकते हैं, यथा शिक्षा अधिक प्राकृतिक हो जाएगी (क्योंकि प्रकृति ने स्त्री-पुरुष दोनों पर सामूहिक रूप से समाज की रचना की है), स्त्री और पुरुष दोनों अपनी नेतृत्व करने की शक्तियों का पूर्ण विकास कर सकेंगे, और आरम्भ से ही उन्हें एक दूसरे के समीप रहने का अवसर मिलने से अनैतिकता नहीं जन्मेगी। प्रकृतिवाद का मत है कि स्त्री के प्रति हमारी अनैतिकता का एकमात्र कारण उसका हमसे दूर रहना है। इस प्रयोग के परिणाम भिन्न क्षेत्रों में भिन्न ही उपलब्ध हुए हैं। जेम्स रॉस ने कुछ विशेष उद्धरण देते हुए बताया है कि फ्रांस में सह-शिक्षा असफल रही है और अमेरिका में सफल। अब भारत में भी ऐसे प्रयोग आरम्भ हुए हैं।

विद्यालयों में नागरिकता की प्रभावोत्पादक शिक्षा देने के लिए प्रकृतिवादी शिक्षा प्रणाली स्कूल-प्रबन्ध को लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करने पर बल देती है। बालक स्वयं स्कूल का सारा प्रबन्ध करें, तो स्कूल के वातावरण में स्वतन्त्रता, स्वानुभव और स्वमहत्व के भाव चारों ओर तिरते दिखाई पड़ेंगे। इसे विद्यार्थी-स्वशासन पद्धति कहा जाता है। विद्यालय से बाहर राष्ट्र के नागरिक के जो अधिकार रहते हैं, वे सब विद्यालय रूपी राष्ट्र के नागरिक भोग करते हैं, वे अपने मताधिकार

द्वारा प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, मन्त्रिमण्डल बनाते हैं और स्वयं उसी मन्त्री-मण्डल द्वारा शासित होते हैं । विश्वास उठ जाने पर अविश्वास का मत भी पास किया जा सकता है और अगली सत्र में प्रतिनिधि बदले जा सकते हैं । इस मन्त्री-मण्डल का मुख्य कार्य विद्यालय के अनुशासन तथा पाठ्य-क्रमेतर गतिविधियों का ध्यान रखना होता है । गलती होने पर उसे दण्ड देने का भी अधिकार होता है, और क्योंकि अन्य विद्यार्थियों ने स्वयं इसी कार्य के लिये उन्हें चुना होता है, वे कभी उनके निर्णय का विरोध नहीं करते । स्वशासन की प्रस्तुत प्रणाली के कई एक लाभ होते हैं—१. विद्यार्थी अपने महत्व को अनुभव करते हैं, अपने अधिकारों को समझते हैं और उसके अनुसार कर्त्तव्यों का पालन करते हैं । वे जानते हैं कि विद्यालय के राज्य में उनके मत का मोल है । उनकी उपेक्षा नहीं हो सकती । अतः वे अधिक सन्तुष्ट रहते हैं तथा प्रायः अनियन्त्रण का कारण खड़ा ही नहीं करते । २. परम्परागत अध्यापक द्वारा एकाधिपत्य रखे जाने पर विद्यार्थी-जगत में जो दबादबा विरोध अध्यापक के लिए पाया जाता था, वह जाता रहा । ३. छात्रों को प्रकट में नागरिकता की स्वस्थ शिक्षा मिल जाती है, जिससे वे भावी जीवन में सफलता की नींव तैयार करते हैं । ४. स्कूल के नियम-बन्धन में रहते हुए भी विद्यार्थी अपने को स्वतन्त्र महसूस करते हैं, क्योंकि नियम बनाने वाले वे स्वयं या उनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं । इस प्रकार स्वशासन की पद्धति बालक को सम्पूर्ण सामाजिक तथा सफल नागरिक बनने में अति सहायक होती है । स्वयं अध्यापक चाहे वह कितना भी ऊँचा पदाधिकारी क्यों न हो, विद्यालय-राष्ट्र का एक नागरिक ही होगा । जेम्स रॉस उसे विद्यालय का स्थायी राष्ट्रपति मानता है । परन्तु नागरिक होने के नाते, वह अपने कर्तव्य से भाग नहीं सकता । विद्यालय के शासन में जो कार्य उसे सौंपे गये हैं वह कौशलपूर्ण उनका निर्वाह करेगा ही, और यही उसकी नागरिकता का सच्चा स्वरूप होगा ।

स्वशासन के अतिरिक्त इसी पद्धति पर यदि विद्यार्थियों को कोई सहकारी उद्योग चलाने के लिए प्रेरित किया जाए और वे अध्यापक के निर्देशन में दिल लगा कर काम करें तो निश्चय ही वे अपने सामाजिक जीवन में व्यवसाय, सहयोग, व्यवहार और सक्रियता का महत्व तथा गुण दोनों सीख सकेंगे । यथावत् प्राप्त सामाजिक शिक्षा बालक के भावी-जीवन की पथ-प्रदर्शक बनेगी तथा उसके लिए सामाजिक उन्नति का ही नहीं आर्थिक और नैतिक उन्नति का भी मार्ग खोल देगी । पुनः ऐसी किसी भी योजना में बालक कई सम्बद्ध विषय पूर्ण रुचि से पढ़ने का सदभ्यास करेंगे । आधुनिक व्यव-हारवादियों ने तो ऐसी योजनाओं को अपने विशिष्ट ढंग में ढाल कर शिक्षण विधियों में ही सन्निहित कर लिया है । उदाहरण के लिए यदि विद्यालय के छात्र सहकारिता के आधार पर स्कूल में नोटबुक, कागज, कलम-दवात, निब, पेंसिल आदि की दुकान

चलाएँ और क्रय-विक्रय का हिसाब रखें तो वे सम्बद्ध कितने ही विषयों का अध्ययन कर सकते हैं। गणित, दोहरे लेखे का हिसाब, आवश्यकता के बढ़ने घटने के अर्थशास्त्रीय नियम, हानि लाभ का बजट आदि अनेक चीजें इस प्रकार पढ़ी जा सकेंगी। अतः सिद्ध है कि ऐसी परियोजनाओं से सामाजिक शिक्षा के इतर अध्यापन कार्य में सहायता मिल सकती है। स्कूल-शिक्षण में अपनाई जाने योग्य यह एक अच्छी विधि भी हो सकती है।

शिक्षा और जीवनोद्देश्य—

यद्यपि कुछ विचारकों ने प्रकृतिवाद के लक्ष्यों को भौतिक न मानकर उनपर आदर्श का रंग चढ़ाने का उपक्रम किया है। तो भी प्रकट में प्रकृतिवादी शिक्षा का उद्देश्य जीवन में आध्यात्मिक-पराकाष्ठा सम्पन्न करना कदापि नहीं। आदर्श को विचारधारा के रूप में देखा जाए तो निश्चय ही वे विचारक सम्यक् दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं, परन्तु इसे आध्यात्मिक भित्ति पर आधारित करना, जिसमें आत्मा का मूल्यांकन भी हो, प्रायः ग़लत ही दीख पड़ता है। जैविकीय-मनोविज्ञान का अवलम्ब लिए हुए यह पद्धति भौतिक-उत्तेजकों और मानसिक प्रेरकों से ऊपर शिक्षा क्षेत्र में कुछ और भी दे पाई होगी, इसमें अभी सन्देह है। मन को ही यदि आत्मा कहा जाए और उसकी सहज-प्रवृत्तियों को आत्मा के गुण या आवश्यकताएँ, तो भी प्रकृतिवाद आध्यात्मिकता की ओर न जाकर मनोविश्लेषण की ओर बढ़ जाता है। अतः हमारे लिए यही उचित है कि हम प्राकृतिक-शिक्षा से सम्बन्धित जीवनोद्देश्यों पर निर्णयात्मक मत न प्रकट करते हुए केवल दो एक मुख्य स्वरूपों का चित्रण मात्र ही प्रस्तुत करें।

सहज प्रवृत्तियों के संशोधन और सबलता पर जोर देने वाली प्रकृतिवादी शिक्षा का सर्वप्रथम लक्ष्य मानसिक संतुलन बनाए रखना है। जीवन की सफलता का यही एक-मात्र रहस्य है। अतः प्रकृतिवादी विचारक इसी को जीवनोद्देश्य मानेगा ही। कारण स्पष्ट है। प्रकृतिवाद मानवीय वृत्तियों, संवेदनाओं, ऊर्जाओं तथा उद्वेगों के नैसर्गिक विकास की माँग करता है। उसके मतानुसार मानव जीवन की विशेषता इसी में है कि वह भगवान् द्वारा प्रदान की गई प्रकृति को पूर्ण और सम्यक् विकास का सुअवसर दे। सम्भवतः यही कारण है कि प्रस्तुत शिक्षा प्रणाली जितना मनुष्य-प्रकृति के स्वतन्त्र पनपने की आकांक्षा रखती है, उतना शास्त्रीय-पद्धति द्वारा उसका विवेक जगाने की नहीं। कुछ एक प्रकृतिवादी विचारकों का कहना है कि मनुष्य की वृत्तियों की स्वाभाविकता के मार्ग में जब किसी भी बाहरी शक्ति का हस्तक्षेप होता है, तो उनकी व्यवस्था तितर-बितर हो जाती है। परिणामस्वरूप कभी मनुष्य

मानसिक संतुलन भी खो सकता है। अतः शिक्षा द्वारा मनुष्य के मानसिक विकास में स्वाभाविकता का समावेश अनिवार्य है।

शिक्षा का दूसरा लक्ष्य या जीवनोद्देश्य मानव की आन्तरिक ऊर्जाओं (Energies) के नैसर्गिक-विकास द्वारा उसमें नैतिकता का प्रतिवर्द्धन करना है। बालक को उसकी इच्छानुसार स्वतन्त्रता प्रदान करना, उसे नागरिकता और सामाजिकता की सद्शिक्षा देना, दूसरों के प्रति उसके कर्तव्यों का ज्ञान करवाना, उसकी पशु-वृत्तियों को मानवता के रंग में रंगना आदि ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनसे बालक में स्वयमेव नैतिकता का जन्म होता है। प्रकृतिवाद का यह उद्देश्य आदर्शवाद के उन उद्देश्यों की कोटि का है, जो उसमें शिवम् का मिश्रण प्रस्तुत करते हैं।

इन प्रकट उद्देश्यों के अतिरिक्त, वस्तुतः, कहा जा सकता है कि प्रकृतिवादी शिक्षा व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास को ही लक्ष्य बनाए हुए है। शारीरिक सम्पन्नता के नाते एन्द्रीय-शिक्षा, क्रियाशील वातावरण, अवयव संचालन व्यायाम आदि सब कुछ इस प्रणाली में उपलब्ध है। बौद्धिक शिक्षा के क्षेत्र में स्वानुभव-पद्धति द्वारा सब प्रकार के विषयों का सुन्दर परिपाक इसमें मिलता है। मानसिक-सबलता प्रदान करने के लिए प्रकृतिवाद जैविकीय मनोविज्ञान के आश्रय स्वाभाविकता की गति का शोधन भी करता है और उसका सम्यक् विकास भी। इसी प्रकार स्वशासन और व्यवस्था के नाते भावी नागरिक जीवन की क्रियात्मक शिक्षा भी विद्यार्थी को दी जाती है। जिससे कुल मिलाकर यदि इस प्रणाली को मुख्यतः व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास की ओर झुकी हुई माना जाए तो बिना किसी हिचक के कहा जा सकेगा कि प्रकृतिवादी शिक्षा जीवन के महत्वपूर्ण उद्देश्यों को ही अपना लक्ष्य बना कर चलती है और उसी में उसकी सफलता का रहस्य है। हम पहले देख चुके हैं कि प्रधानतः आदर्शवाद का उद्देश्य भी व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास ही था। अतः यहीं सिद्ध हो जाता है कि लक्ष्यों या उद्देश्यों की दृष्टि से प्रकृतिवाद और आदर्शवाद में कोई अन्तर नहीं; मात्र भेद विधियों, प्रयोगों और स्वरूप चिन्तन में है।

प्रकृतिवादी शिक्षा पद्धति जिसकी व्याख्या हम ऊपर से भिन्न भिन्न भागों में कर आए हैं, निश्चय ही आधुनिक युग में बहुतों को अपनी ओर आकर्षित कर रही है। अनेक शिक्षालय इन नये प्रयोगों में क्रियागत रूप देने के प्रयत्न में हैं। कुछ को ऐसा करने में सफलता भी मिली है, कुछ सफलता की निम्न स्थिति पर रेंग रहे हैं और कुछ अभी स्वप्न लोक में विचरण करते हुए भी कुछ करने की आशा रखते हैं। इस प्रकार के प्रयोग करने वाले सफल स्कूलों में जेम्स रॉस ने श्री ए० एस० नील द्वारा संचालित 'समरहिल' स्कूल का चित्र प्रस्तुत किया है। स्वयं नील ने अपने स्कूल के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसी का सार श्री रॉस ने अपनी पुस्तक 'ग्राउन्ड वर्क

आफ़ एड्युकेशनल थियूरी' में लिखा है। यहाँ उसी सार का उद्धरण देना कोई विशेष आवश्यक तो नहीं, परन्तु फिर भी विद्यार्थियों की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए, कुछ एक शब्दों में उसका वर्णन कर देना भी मैं बिल्कुल अनुचित नहीं समझता।

समरहिल स्कूल की सबसे बड़ी विशेषता उसका बालकों के अनुरूप होना है। घर में बालक की सुविधा के ध्यान से कुछ नहीं बनाया जाता, और यदि स्कूल में भी यह ध्यान न रखा जाए तो शिक्षा बालक पर बोझ बनकर रह जाएगी। इस स्कूल में बालकों को अनिवार्यतः आज़ाद वातावरण दिया जाता है। वे खेलें या पढ़ें उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता। बालकों की प्रकृति से मेल खाने वाली तथा उनकी पसन्द की लगभग सब वस्तुएं वहाँ जुटाई जाती हैं। वर्ग के कमरों में किसी प्रकार की शास्त्रीय कला के नमूने प्रस्तुत नहीं किये जाते क्योंकि बालक कला का प्राकृतिक रूप कृत्रिमता की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। स्कूल में पूजा या उपासना को भी कोई स्थान नहीं दिया जाता। प्रकृति ने बाल स्वभाव में ऐसी किसी वस्तु का समावेश किया होगा इस पर सन्देह किया जाता है। शिक्षा क्षेत्र में निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया जाता है। वहाँ अध्यापक छात्रों के मित्र साथी, या परामर्शदाता बन कर पहली स्थिति में क्या नहीं करना चाहिए और दूसरी स्थिति में प्रेम और स्वेच्छा के आश्रय अध्यापन कार्य करते हैं। स्कूल के अध्यापक इतने गम्भीर नहीं रहते कि विद्यार्थी उनसे अपने को जुदा समझें। परिहास-बुद्धि के कारण, वे छात्रों में घुले मिले रहते हैं। स्कूल में नैतिकता की झूठी मर्यादा को कोई स्थान नहीं। वहाँ बालकों के सामने यौन चर्चाएं भी चलाई जाती हैं। इससे बालकों में मानसिक पुष्टि जगती है और सह-शिक्षा का सफल मार्ग खुल जाता है। बालकों की इच्छानुसार उनसे अनौपचारिक बातचीत भी की जाती है।

स्कूल में बालकों द्वारा स्वशासन चलाया जाता है। इसमें व्यक्तिगत आज़ादी सब को दी जाती है। लेकिन सामाजिक नहीं। नियम बनाना और उसका पालन करना महत्वपूर्ण माना गया है। यही करण है कि स्कूल में सामाजिक आज़ादी का विरोध किया गया है। प्रत्येक सत्र के आरम्भ में पाँच प्रतिनिधियों के मन्त्रीमण्डल का चुनाव किया जाता है। यह मन्त्रीमण्डल नियम भंग या अनियन्त्रण आदि अपराधों पर विचार करता, फैसला सुनाता और आवश्यक दण्ड की व्यवस्था भी करता है। प्रत्येक शनिवार एक वृहत्सभा की बैठक होती है, उसके प्रधान का चुनाव मौके पर ही होता है। इस सभा में मन्त्रीमण्डल के फैसलों पर गूढ़ दृष्टिपात किया जाता है और आवश्यकतानुसार उसका अनुमोदन, विरोध या संशोधन किया जाता है। मन्त्रीमण्डल स्कूल से निकाल देने तक की कड़ी सज़ा दे सकता है। बच्चों को अपने निर्वाचित

प्रतिनिधियों में इतनी आस्था है कि वे कभी उनके फैसले को अस्वीकार नहीं करते और ना ही उसे कोई चुनौती देते हैं। नील के मतानुसार स्कूल के बालक एक बृहत्सभा में जितना सीख लेते हैं, उतना वे अपने सप्ताह भर की पढ़ाई में भी नहीं सीखते। नील के इस स्कूल में पुस्तक की पढ़ाई को कोई महत्व नहीं दिया जाता। यदि वर्ग में पुस्तक पाठ हो रहा हो तो उसमें उपस्थित रहना ना रहना बालक की स्वेच्छा पर निर्भर रहता है। परीक्षाओं से विशेष घृणा है। औद्योगिक क्षेत्र में बालकों को कला कार्य भी सिखाए जाते हैं। वे सृजनात्मक भी हैं और रुचिवर्धक भी। नाटक भी खेले जाते हैं और खास तौर पर जिनमें व्यंग्य और हास्य की प्रधानता हो, बालक उन्हें खूब पसन्द करते हैं। यह भी स्कूल की एक सृजनात्मक क्रिया है। आदि आदि—

समरहिल स्कूल का उपर्युक्त चित्र प्रत्यक्ष ही प्रकृतिवादी शिक्षण-विधियों, लक्ष्यों और उद्देश्यों का अनावरण करता है और बालकेन्द्रित शिक्षा की मनमोहक झाँकी है।

भारतीय शिक्षा और प्रकृतिवाद—

भारतीय शिक्षा पर आज प्रकृतिवाद का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है। सुश्री मॉण्टेसोरी की भारत यात्रा के बाद से तो भारत में अनेक प्रकृतिवादी प्रयोग आरम्भ हो गये हैं। अध्यापन-शिक्षण-केन्द्रों में भी मॉण्टेसोरी-पद्धति-प्रशिक्षण, किन्डरगार्टन-पद्धति-प्रशिक्षण, हैप्पी-स्कूल-प्रशिक्षण आदि अनेक प्रशिक्षण-शाखाओं का जन्म भारतवर्ष में हो चुका है। इन पद्धतियों पर चलने वाले स्कूलों का उदय भी बरसाती मेंढकों की तरह स्थान-स्थान पर हो रहा दीख पड़ता है। परन्तु युगों से चली आती भारतीय-शिक्षण-पद्धतियों पर इसका स्थायी प्रभाव क्या पड़ा? यही हमारे सर्वेक्षण का विषय है।

प्रकृतिवाद की स्वानुभव की पद्धति आधुनिक भारतीय शिक्षा पर काफी प्रभाव डाल चुकी है। शिक्षा में विश्लेषण विधि का प्रयोग और विद्यार्थी को परिज्ञान की गहराई तक स्वयं पहुँचने की प्रेरणा देना, कथित पद्धति का ही पुरस्कार कहा जाना चाहिए। हमारे परम्परागत शिक्षा क्षेत्र में पाठ्य-क्रमेतर गतिविधियों का समावेश प्रकृतिवाद की महान् देन है। यदि भारतीय शिक्षा ने आज 'रट' एवं-अनुशासन के बाहर भी कुछ है, का अनुभव किया है, तो प्रकृतिवादी शिक्षा-प्रणाली की कृपा से ही? इससे पूर्व मस्जिदों और मन्दिरों, गुरुकुलों और शालाओं में पलने वाली हमारी शिक्षा कभी स्वतन्त्रता के स्वप्न भी ले सकती थी, वर्ग में मौन बैठे भी चला सकती थी या पुस्तकाध्ययन से एक इंच भी बाहर शिक्षा का क्षेत्र स्वीकार

कर सकती थी । इस सब में सन्देह है । आज-भारतीय-स्कूलों में (दकियानूसी विचारों के जातीय या साम्प्रदायिक स्कूल नहीं, युगानुसार करवट-बदलने वाले स्कूल) प्रकृतिवाद और व्यवहारवाद की विधियों का सुन्दर सम्मिश्रण अपनाया जा चुका है । डण्डे के राज्य की अपेक्षा उनमें प्यार का साम्राज्य बढ़ रहा है । विद्यार्थियों को अपने कदमों पर खड़े होने का सामर्थ्य प्रदान करने के लिए क्रियाशील रखा जाता है । कला, शिल्प और उद्योग की शिक्षा भी दी जाने लगी है । सच तो यह है कि यदि भारतीय शिक्षा इस क्षेत्र में अधिक उन्नति कर सके, तभी प्रकृतिवाद हमारे लिए वरदान बन सकता है, अन्यथा नहीं । भारत एक निर्धन और लगभग पिछड़ा हुआ देश है । उसे अपनी निर्धनता दूर करने के लिए कुशल कलाकार, शिल्पी और औद्योगिक-मनुष्यों की गम्भीर आवश्यकता है । मॉण्टेसोरी और किण्डर-गार्टन जैसी खर्चीली और महँगी पद्धतियाँ एक सामान्य भारतीय के लिए सफ़ेद हाथी हैं । अतः इन पद्धतियों का भारत में आना वास्तव में प्रकृतिवाद का प्रभाव न मान कर, हम उपर्युक्त प्राकृतिक ढंगों का अपनी शिक्षा परिपाटी में अपनाए जाने को ही प्रस्तुत सिद्धान्त की देन स्वीकार करते हैं ।

भारतीय-शिक्षा और प्रकृतिवाद में युगों से चला आता एक और मेल भी स्वीकार किया जा सकता है । पुरातन भारत की शिक्षा जंगल में, नदी के तट पर किसी रमणीक प्राकृतिक स्थान पर गुरु के आश्रम में सम्पन्न होती थी । उसमें विद्यार्थी नगर की चकाचौंध, शिष्टता और आडम्बर को भुला कर प्रकृति की स्निग्ध गोद में स्वयं परिस्थितियों से संघर्ष करता था और निजी प्रयत्नों द्वारा गुरु के निर्देशन में अपना-भावी मार्ग खोज निकालता था । रूसो भी इसी प्रकार की शिक्षा का पक्षपाती था । वह अपने शिष्य एमील को नगर से बाहर ले जाकर प्रकृति-प्रांगण में शिक्षित करना चाहता था, जिससे स्पष्ट ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रूसो पर भारतीय प्रणाली का प्रभाव था । ठीक है कि उसने उसमें संशोधन कर विद्यार्थी के सर्वांगीण बन्धन भी काट दिये और उसे स्वतन्त्र विचरण की मान्यता दी, जबकि भारतीय शिक्षा जंगल में भी छात्र को अनेक नैतिक और औपचारिक बन्धनों में जकड़े रहती थी ।

पुनः आज की प्रकृतिवादी शिक्षा जीवनोद्देश्यों और लक्ष्यों के लिए अतीत-भारतीय-शिक्षा की ऋणी दिखाई पड़ती है । लगभग सब के सब उद्देश्य वहीं से हस्तगत किये मालूम होते हैं । युग की आवश्यकतानुसार विधियाँ जरूर बदल गईं—गन्तव्य स्थान नहीं बदला, मार्ग बदल लिये गए । सच तो यह है कि आधुनिक काल में सब की सब नई शिक्षा प्रणालियाँ नित्य नवीन विधियों के ही आंदोलन हैं, लक्ष्य आदर्शवाद ने और विशेषकर भारतीय आदर्शवाद ने जो एक बार बना दिये,

वही अकाट्य रूप में अभी तक चले जा रहे हैं। उन्हें कभी-कभी भिन्न रंगों में रंगने के प्रयत्न होते हैं परन्तु पहले से ही वे ऐसे पक्के और गाढ़े रंगे हैं कि या तो उन पर कोई दूसरा रंग चढ़ता ही नहीं या चढ़ जाने पर शीघ्र ही पहचाना जाता है।

प्रकृतिवादी शिक्षा के दोष—

प्रस्तुत अध्याय को अधिक लम्बा न करने की इच्छा से हम प्रकृतिवादी शिक्षा के दोषों को संकेत रूप में ही गिनकर इसकी इतिश्री करेंगे। १. इस प्रणाली में शिक्षा को बालक पर इतना अधिक केन्द्रित कर दिया गया है कि बेचारे अध्यापक को तो परिश्रम करते हुए भी ग्रहण-सा लगा मालूम देता है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी विद्यार्थी अपना गलत मूल्यांकन भी कर सकते हैं और पथभ्रष्ट हो जीवन की सार्थकता भी खो बैठें तो क्या अचम्भा ? २. प्रकृतिवादी शिक्षा-प्रणाली लक्ष्य के विचार से बालक के विकास की परियोजना नहीं बनाती, प्रत्युत बालक की सहज प्रवृत्तियों और उनके नैसर्गिक विकास को सम्मुख रख लक्ष्य का सृजन करती है; यह एक बड़ी माया है। बिना लक्ष्य के अन्धेरे कुएँ में ईंटें फेंकने की स्थिति पैदा करने में कोई विशेष लाभ नहीं मिल सकता। लक्ष्य का पूर्व-निर्णीत होना शास्त्रीय दृष्टि से अनिवार्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृतिवाद बाद में जिन लक्ष्यों पर आस्था प्रकट करता है, वे आदर्श-वाद द्वारा पहले ही शिक्षा क्षेत्र में रखे जा चुके थे। अच्छा होता यदि स्वयं प्रकृतिवाद अपने अस्तित्व को भिन्न दर्शन कहने की अपेक्षा शिक्षा क्षेत्र में विधि-सुधार-आन्दोलन के नाम से चल निकलता। ३. स्वानुभव की भावना को सीमातीत करके प्रकृतिवाद ससीम में असीम दोष का अपराधी बन गया है। हर बात में अपने ही अनुभवों को सम्मुख रखा जाए तो बालक आयु भर में कुछ भी न सीख पाएगा। ज्ञान बहुत विस्तृत है और आयु सीमित। हमारी सुविधा के लिए जो दूसरों के अनुभव हमें मिलते हैं, वे निश्चय ही ग्राह्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर न्यूटन, आइन्स्टाइन आदि विचारकों का समन्वय प्राप्त नहीं कर सकता। उनके सिद्धान्तों को यथा-तथ्य, अनुभव के आधार पर नहीं, तर्क के आधार पर स्वीकार करना ही पड़ेगा। आग में जलाने की शक्ति का स्वानुभव करना मूर्खता ही होगा। ४. बालक को स्वतन्त्रता पर जोर देते हुए उसे किसी भी काम से रोकने की मनाही की गई है। प्रकृतिवाद का यह मिथ्याभिमान है। ठीक है कि कार्य के गलत होने पर प्रकृति स्वयं पाप को दण्डित करेगी, परन्तु अनजाने में होने वाली उन गलती का यह दण्ड अनुपाततः अपराध से बहुत ज्यादा भी हो सकता है। कुएँ में झुक कर अपना प्रतिबिम्ब देखने वाला बालक बीच में गिर कर प्राण भी तो खो सकता है। प्रकृति इस पर अट्टहास

कर उठेगी, बालक की रक्षा की उससे आशा नहीं की जा सकती। ५. प्रकृतिवाद का अन्तिम और प्रधान दोष मनुष्य को पशु-जगत तक ही सीमित कर देने का है। उसकी मानसिक वृत्तियों, उद्वेगों, संवेदनाओं, ऊर्जाओं आदि पर असाधारण बल दे कर सम्भवतः प्रकृतिवादी शिक्षा मनुष्य-मन के गिर्द एक जंगला लगाना चाहती है, ताकि वे सब मजबूती से उसमें कैद रह सकें और मानसिक संतुलन बना रहे। परन्तु अन्तरात्मा की आवाज सुनने के लिए जैसे प्रकृतिवाद के पास समय ही नहीं। मानसिक वृत्तियों से बाहर भी मनुष्य में कुछ है, ऐसा उसे स्वीकार ही नहीं। भला फिर यदि वह आत्मा के प्रति उदासीन रह कर ललित कलाओं, भक्ति, श्रद्धा आदि की उपेक्षा करे, तो क्या अत्युक्ति।

शिक्षा में आदर्शवाद

'आदर्शवाद'[1] ऐसा सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत विश्व की सत्यता व्यक्तित्व के स्वरूप में ही स्वीकार की जाती है। मानव व्यक्तित्व चेतन है, अतः विश्व सत्यता चेतन ही होगी, ऐसी आदर्शवाद की मान्यता है। व्यक्तित्व की चेतनता मनस् पर आधारित है, और मन में जगने वाले भाव, इच्छाएं, संवेदनाएं तथा मनोविकार उस चेतना का प्रकटीकरण करते रहते हैं। इन भावों से प्रेरित हो कर मनुष्य सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना करता है, विश्व की अनेकता में एकता की खोज करता है, और जीवन की वास्तविकता की ओर अग्रपद होता है।

विश्व का क्रम किस पर आधारित है? ज्ञान क्या है? सौन्दर्य क्या है? शिवं किसे कहते हैं? ये सभी समस्याएं भिन्न भिन्न प्रकार के विज्ञानों का विषय है—यथा क्रमशः विश्व-विद्या (Cosmology), ज्ञान-शास्त्र (Epistemology) सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) तथा नीति-शास्त्र (Ethics)। परन्तु दार्शनिक-सिद्धान्त के नाते आदर्शवाद इन सब के प्रति कोई न कोई समाधान प्रस्तुत करता ही है। उसकी मान्यता है कि सृष्टि का क्रम नित्य (Eternal), आध्यात्मिक (Spiritual) सत्यता के देश और काल में प्रकटीकरण (Manifestation) के कारण चलता है।[2] मनुष्य द्वारा इस नित्य और आध्यात्मिक सत्यता के, जब वह हमारे ठोस और भौतिक संसार का अंग बनती है, परखने के लिए बनाये गये विचार और आधार का नाम ज्ञान है।[3]. मानव द्वारा आस्वादन किया प्रकृति का सौन्दर्य तथा

---

१. आदर्शवाद शब्द का प्रयोग यहां अंग्रेजी के Idealism के पर्याय में किया जा रहा है, अतः यहां भी 'आदर्श' अंग्रेजी के Ideal तथा Idea, दोनों की ओर संकेत करता रहेगा।

२. Idealism holds that the order of the world is due to the manifestation in space and time of an eternal and spiritual- reality. —An Idealistic Philosophy of Education- by Herman H. Horne.

३. It holds that knowledge is man thinking the thoughts and purposes of this eternal and spiritual reality as they are embodied in our world of facts.—H. H. Horne.

निर्मित कला की रमणीयता, दोनों सत्यता के अपरिमित (Infinite) एकत्व द्वारा अपने को परिमित (fini'e) स्वरूप में प्रस्तुत करने की प्रवीणता ही के अन्य नाम हैं।[१] और मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की सुमंगल भावनाएं विश्व की नैतिक-व्यवस्था के साथ मानवाकांक्षाओं की अनुरूपता का आधार हैं।[२] इन कथनों से स्पष्ट है कि शिक्षा और उसका दर्शन सार्वलौकिक पृष्ठभूमि पर समझे जाने चाहिएं। उनका क्षेत्र विश्व की अनादि, अपरिमित, नित्य और अनन्त सत्यता है, न कि कोई तटस्थ और विरोधी संसार। शिक्षा का कर्म परिधान मनुष्य की प्रकृतिस्थ व्यवस्था है। अपने समाज और प्रकृति को नियम-बद्धता में स्थान बनाने की योग्यता उसे प्रदान करना है। आदर्शवाद, मानव और प्रकृति में सन्धि कराना ही शिक्षा का उत्तम लक्ष्य समझता है। प्रकृति को पहचानना और उसके सुचक्र पर प्रभुत्व स्थापित करना मानवीय सफलता का प्रतीक है। प्रकृति से व्यवस्था 'जल में रहना और मगर से वैर, वाली बात होगी। मनुष्य संसार में रहता हुआ भी अपने को असंतुलित और बाहरी सा महसूस करता रहेगा। उसका मन विश्व में तब तक रमेगा ही नहीं, जब तक कि वह प्रकृति का सखा बन अपनी मानसिक-सृष्टि का सृजन न कर ले! यही सब कुछ आदर्शवादी शिक्षा का लक्ष्य है, वह मानव को अपेक्षित योग्यता प्रदान करती है जिससे वह प्रकृति रूपी सागर के किनारे बैठ कर रुदन ही नहीं करता रहता, प्रत्युत उसकी गहराई में गोता लगाकर जीवन के अमूल्य रत्न-धन प्राप्त करने में सफल हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि आदर्शवादी शिक्षा-दर्शन मनुष्य को वह स्वरूप प्रदान करता है, जिसमें वह अपने को मानसिक-विश्व का पूर्णांश समझने लगे।'[३]

अब प्रश्न उठता है कि आदर्शवाद तथा उसकी विश्व व्याख्या को क्योंकर स्वीकार किया जाए? ऐसे बहुत से तथ्य प्राप्य हैं, जिनसे यदि आदर्शवाद का महत्त्व

१. Idealism says that the beauty of nature which man enjoys and the beauty of art, which man produces, is the perfection of the infinite whole of reality expressing itself infinite forms.—H. H. Horne.

२. The goodness of man's individual and social life is the conformity of the human will with the moral administration of the universe.—H. H. Horne.

३. An idealistic philosophy of education, then, is an account of man finding himself as an integral part of a universe of mind-—H. H. Horne.

नहीं, तो उसका साकारात्मक परिचय तो मिलता ही है । श्री हार्न इन तथ्यों को दस भागों में विभाजित करते हैं। १. मन व्याख्या का नियम है। २. मन पदार्थ नहीं। ३. मन का सृजन मन से ही होता है। ४. बिना आश्रय के वस्तुज्ञान नहीं हो सकता (There can be no object without a subject)। ५. व्यक्तित्व की सत्यता में मनुष्य का अविश्वास अविच्छेद्य है। ६ अपने स्वतन्त्र नैतिक प्रतिनिधि होने में भी मनुष्य को विश्वास है। ७. दार्शनिक सिद्धान्त के नाते आदर्शवाद मनुष्य के 'आत्मा अमर है' के ख्याल का समर्थन करता है। ८ मनुष्य की धारणा है कि न्याय के सिरे चारों ओर से परस्पर जुड़े हुए हैं अर्थात् न्याय का अपना नैतिक क्रम है, जिससे मनुष्य कभी बचकर भाग नहीं सकता। ९. जातीय धर्म-भावना भी प्रायः किसी न किसी रूप में आदर्शवाद का सम्बल बन जाती है । १०. आदर्शवाद का पक्ष लेने वाले अनेक महान् दार्शनिक विश्व की विभूति बन चुके हैं । यहाँ इन तथ्यों की संक्षिप्त व्याख्या दे देना भी यथा-स्थान ही होगा।

१. 'यह ध्रुव सत्य है। हमारी मन सम्बन्धी जानकारी वास्तव में हमारे निजत्व का ही आधार है। हमारी चेतनाएं, हमारे विचार, हमारी संवेदनाएं, इच्छाएं, आकांक्षाएं या दूसरे के सम्बन्ध में हमारा अस्तित्व, सभी मन की व्याख्यात्मक शक्तियों की ओर संकेत करते हैं । विश्व को भी मानसिक रूप में देखना इस बात का प्रमाण है कि सम्पूर्णतः उस दिव्य रूप में हम और कोई कल्पना कर ही नहीं सकते । वास्तव में मन का आश्रय रूप में प्रयोग हो या वस्तु-ज्ञान रूप में लगाव, दोनों का लक्ष्य कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन ही होता है । भिन्न प्रकार की मानवीय समस्याओं का प्रेरक, विचारक और सुधारक सब मन ही तो है । विचार-शक्ति की आराधना के लिए यह हमारे भूत से सहायता लेता है, परन्तु स्वयं व्याख्यात्मक रूप में । मन किसी अन्य पदार्थ को अपने से अधिक वास्तविक नहीं मान सकता— उसका ऐसा विचार मात्र ही पहले उसकी वास्तविकता सिद्ध कर देगा।

२. पदार्थ स्थान घेरता है, पदार्थ का वजन होता है, पदार्थ का आकार तथा गुण-धर्म होता है— परन्तु मन इन सबसे मुक्त है। मन न तो जगह घेरता है, न उसका बोझ है और ना ही वह मोटा या छोटा, लम्बा या चौड़ा, ऊंचा या नाटा होता है। जगह स्वयं मन का एक भाव है, बोझ मन की एक कल्पना है, आकार तथा गुण मन के अलौकिक संकेत हैं । अनुरूपता के सिद्धान्त (Analogy) से सहायता में तो कहा जा सकेगा, कि जो कुछ भी स्थान, बोझ या आकार अतिरिक्त मानस के भावात्मक उत्पादन के अतिरिक्त भी बन पाता है, वह अनिवार्यतः विश्व-मानस (Universal Mind) के प्रसार की वस्तु होगी । मन विचारशील है और यदि वह पदार्थ का विचार करता है, तो स्वयं पदार्थ नहीं हो सकता । दूसरे पदार्थ स्थूल हैं, वह

विचार कर ही नहीं सकता। जैसे कहा जाता है कि हीरा अपना मोल स्वयं नहीं जानता उसे परखने वाला चाहिए, वैसे ही परखने वाले मन की उपस्थिति में पदार्थ कुछ भी नहीं। मन पर नीति तथा आदर्श का प्रभाव रहता है, परन्तु पदार्थ पर नहीं। पदार्थ की प्रतिक्रिया नैतिक या पराभौतिक हो, ऐसा असम्भव है। आप प्रार्थना के बल पर आततायी के मन को सहानुभूति-पूर्ण बना सकते हैं, परन्तु खड्ग, जो चलेगा तो घाव करेगा ही, आप की प्रार्थना से कभी पराभूत नहीं हो सकता। अतः प्रकट है कि पदार्थ जड़ है और मन चेतन, दोनों एक नहीं।

३. सर्वजन्य सिद्धान्त है कि चेतन से चेतनता तथा जड़ से जड़ता का उदय होगा। न जड़ से चेतनता का उद्‌गम सम्भव है और ना ही चेतन से जड़ता का। यदि चेतन जड़ता का स्वरूप प्रस्तुत करने लगे, तो वह जड़ कहा जाएगा, चेतन नहीं; और यदि जड़ चेतनता का स्रोत बन जाए तो वह स्वयं इस बात का प्रमाण होगा कि वह जड़ नहीं चेतन है। यही स्थिति मन की भी है। मन चेतन है, जड़ पदार्थ नहीं। अतः स्वयं सिद्ध है कि उसका आधार भी चेतन ही होगा, और जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि जगत की चेतनता, विश्व-मानस् का रूप है तो निस्सन्देह व्यक्तिगत चेतना का उद्‌गम-स्थल वही होगा।

यहां कुछ लोग अवश्य विरोध खड़ा करेंगे। उनके मतानुसार आकस्मिक-विकास (Emergent Evolution) के कारण कभी कोई वस्तु ऐसी भी उगती है, जिसका बीज वे गुण ही न रखता हो। उदाहरण के लिए जल का अस्तित्व हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन गैसों के मिश्रण से सम्भव है, जब कि इन दोनों गैसों में से, किसी में भी जल की विशेषताएं नहीं। प्रोफेसर हॉर्न इस अनिवार्य-विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध तीन तर्क प्रस्तुत करते हैं। पहले अरस्तु के मतानुसार सम्भाव्यता (Potentiality) बिना वास्तविकता की नींव के स्थिर हो कैसे रह सकती है? किसी साम्भाव्य-मन की उपस्थिति के लिए वास्तविक-अनुभूत-मन का आस्तित्व अनिवार्य है। पदार्थ के द्वारा मानस के निर्माण की कल्पना से पहले कहीं विश्व-मानस चेतना की राशि तो होनी ही चाहिए, जो उससे व्यक्तिगत चेतना की प्रणालिकाएं चलाई जा सकें। दूसरे, सुलझन से पहले उलझन होनी तो आवश्यक है न! जो उलझन ही न होगी, वह सुलझेगी क्या? और फिर उलझन और सुलझन का आधार एक ही हो सकता है, दो नहीं। उलझन जड़ होगी तो सुलझन भी जड़ और उलझन चेतन होगी तो सुलझन भी चेतन। प्रकट है कि पदार्थ का ह्रास, मन का विकास नहीं बन सकता है—दोनों की धाराएं भिन्न हैं। तीसरे, विकास स्वयं एक निश्चयात्मक-क्रम है। प्रत्येक कार्य का पूर्व-निश्चित कारण होता है। कारण का कार्य से अटूट सम्बन्ध ही नहीं, बल्कि कारण की जाति ही कार्य की जाति का आधार भी बनती है। क्योंकि पदार्थ और

मन दोनों भिन्न जातियों के अस्तित्व हैं, उनके कारणों का भिन्न होना स्वाभाविक ही है ।

४. वस्तु सदैव विचार की वस्तु होती है । उसका विचारक आश्रय कहलाता है । वस्तु का अस्तित्व आश्रय के विचार पर ही अवलम्बित है । आश्रय अपने सम्बन्ध में विचार करे तो स्वयं प्रत्यक्ष पदार्थ बनने की क्षमता रखता है । अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुओं से भरे संसार की कल्पना भी आश्रय के बिना असम्भव होगी । तब तक ही विश्व है, जब तक कोई इसे देखने, सुनने और अनुभव करने वाला है । प्रकट है, जिस प्रकार विद्वान् के बिना विद्वत्ता, विचारक के बिना विचार, प्रेमी के बिना प्रेम या व्यक्ति के बिना व्यक्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता, ठीक वैसे ही आश्रय के बिना वस्तु ज्ञान का प्रश्न नहीं उठता ।

५. व्यक्तित्व की सत्यता में मनुष्य का अविच्छेद्य विश्वास है । यदि वह बलात् इससे इन्कार भी करे तो प्रत्यक्ष में व्यक्तित्व की स्वीकृति ही होगी । इन्कार करना स्वयं यहाँ व्यक्तित्व बन जाएगा । वास्तव में विश्व-मानस को व्यक्तिगत योग्यताओं के मान-दण्ड पर परखना ही व्यक्तित्व है । परन्तु संसृति को आदि-मानस के रूप में देखते हुए अपने को उसी का प्रतिरूप समझना आदर्शवाद का दार्शनिक सिद्धान्त है । क्योंकि किसी भी प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक या शैक्षणिक पद्धति का महत्त्व व्यक्तिगत व्यक्तित्व पर पड़ने वाले उसके प्रभाव से ही ठहराया जा सकता है, इसीलिए पद्धतियों और उनके प्रभाव की उपस्थिति में 'आधार' की सत्यता स्वीकार करना कभी कोरी कल्पना नहीं हो सकती । केवल आदर्शवाद ही नहीं, दर्शन तथा शिक्षा के क्षेत्र की प्रत्येक प्रणाली व्यक्तित्व, उसके अनुरूप विकास तथा उसकी यथार्थता पर जोर देती रही है, देती रहेगी । आश्रयी-प्रधान आदर्शवाद (Subjective Idealism), भौतिक आदर्शवाद (Objective Idealism) या व्यक्तिगत आदर्शवाद (Personal Idealism), कोई भी हो, सभी किसी न किसी रूप में व्यक्तित्व की सत्ता स्वीकार करते हैं —मात्रा या गुण में न्यूनाधिकता हो सकती है । आश्रयी-प्रधान आदर्शवाद केवल आश्रय या व्यक्ति के अस्तित्व को ही स्वीकार करता है, बाह्यभूत पदार्थों में उसकी आस्था नहीं । इसके अनुसार बाहरी वस्तुएँ केवल मनुष्य की मानसिक चेतनाओं के संसार की ही कृति हैं । भौतिक-आदर्शवाद देश और काल की परिधि में अन्य पदार्थों का अस्तित्व तो स्वीकार करता है, परन्तु केवल विश्व-मानस के भावना और निमित्त की सीमाओं में बद्ध । व्यक्तिगत-आदर्शवाद, परिमित और अपरिमित, दोनों इकाइयों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है ।

६. मनुष्य भलाई और बुराई के अन्तर को समझता है । उसका लक्ष्य प्रायः भलाई ही होती है । बुराई अपवाद है । वह स्वभावतः यदि किसी को सुख न पहुँचा

सके, तो दुःख भी नहीं पहुँचाता। उसका विश्वास है कि वह प्रकृति की एकता का प्रतीक है। प्रकृति स्वयं नैतिकता का आधार है, अतः वह अपने को नैतिक प्रतिनिधि मानता है। उसका यह विश्वास आदर्शवाद की स्वीकृति का ठोस प्रमाण है।

७. कुछ जातियों में यह विश्वास पाया जाता है कि आत्मा अमर है। आदर्शवाद इसका समर्थन करता है। यदि संसार की यथार्थता सनातन-रूपी और अविनाशी नींव पर स्थित है, तो आत्मा का अनित्य माना जाना तो विपरीत धारणा हो जाएगा। 'आत्मा की नित्यता' और 'मानव का उदय मानव से होना' दोनों एक दूसरे का अनुमोदन करते हैं। मन के उद्गम का प्रश्न हो या मन की स्थिरता का, दोनों अपने दोनों छोरों को आने वाले तथा बीते हुए काल में अविकल्प मिलाकर उसके स्थायित्व तथा अमरता का परिचय देते हैं।

८. संसार में आ जाने वाले प्रत्येक विद्वान् ने कारण और कार्य का ऐसा अटूट सम्बन्ध स्वीकार किया है कि एक की अनुपस्थिति में दूसरे की उपेक्षा स्वाभाविक हो गई है। मानव-जाति की यह अटल मान्यता है कि नैतिक विश्व में कर्म का फल कर्ता को मिलता ही है, इससे वह बच नहीं सकता। भले कार्य के परिणाम का स्थायी महत्त्व होता है, जब कि बुरे काम का परिणाम आत्म-विनाश-कारी हो सकता है। इसी धारणा के फलस्वरूप लोगों का मन बन चुका है कि कानून की अदालत में यदि दुष्ट बच भी जाए तो नीति की अदालत में वह अपने को छिपा नहीं सकता। इसी अज्ञात-भय से वे जीवन की आदर्शता की ओर अग्रपद होते हैं जो कि दार्शनिक-सिद्धान्त आदर्शवाद के लिए परम सहायक है। पुनः परम-सत्यता का एकमात्र गुण सुमंगलम् या शिवम् (The good) एकता तथा अनेकता के समन्वय का प्रतीक है। प्रस्तुत समन्वय के नैतिक न्याय की आधारभित्ति होने के कारण, मानव दुष्कर्म करने से पूर्व उसके भावी और काल्पनिक दण्ड का विचार कर लेता है। यहाँ यदि वास्तविकता न भी हो, तो भी वर्तमान विचार मानवता में नीति-धर्म के प्रचार में सहायता तो देता ही है। इससे आदर्श जीवन की झाँकी मिलने की आशा होती है।

९. निश्चय ही जातीय धर्म-भावना किसी न किसी रूप में आदर्शवाद का सम्बल है। जगत् का प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी जाति, कुल या कबीले से सम्बन्धित क्यों न हो, अपने विचारों में जरूर कुछ न कुछ श्रद्धा या विश्वास छिपाए रहता है। वह किसी असमर्यादित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार कर, उसके सामने नतमस्तक होना आत्माभिमान पर कुठाराघात नहीं समझता। सच तो यह है कि मनुष्य की श्रद्धालु-भावना भी वैसी ही स्वाभाविक है, जैसी तर्क, सौन्दर्य या नीति की चेतना। ऊपर के तथ्य में हमने देखा कि अपनी

जन्म-दाता नैतिक-चेतना के कारण मनुष्य जैसे विश्व को नैतिक-क्रम समझता है, ठीक वैसे ही अपनी धार्मिक-संवेदना के कारण वह संसार को आध्यात्मिक क्रम भी मानता है। इससे ऐसा तो प्रकट नहीं होता कि संसार मनुष्य की ही इच्छाओं पर निर्भर है, हाँ, इतना अवश्य सिद्ध है कि संसार ने मनुष्य को जो कुछ भी बनाया, वह उसकी धार्मिक भावना की सजीव मूर्त्ति ही कहा जाएगा। प्रकृति ने सबको उनकी अपेक्षित वस्तुएँ दी हैं, श्रद्धा भी उनमें से एक है, जिससे धर्म का उदय होता है।

१०. आदर्शवाद के क्षेत्र में आज तक अनेक महारथी विचारक हो चुके हैं। पश्चिम और पूर्व, दोनों ने इस विभूति के संचय में हाथ बटाया है। मैं तो यह भी स्वीकार करता हूँ कि पश्चिम और पूर्व का यदि कहीं मिलाप हो सका है, तो वह इन विचारकों के विचार परिमल द्वारा ही। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों की विचार पद्धतियाँ भिन्न थीं, परन्तु लक्ष्य की अनुरूपता सकल-जन्य है। अफलातून, बर्कले, लायबनीत्ज़, फ़ीक्ते, शॉपन हॉवर, हेगेल, कॉर्लायल, एमर्सन, ग्रीन, ब्रेडले, टेलर, आदि आदि पाश्चात्य विचारक तथा शंकराचार्य से गांधी तक के पूर्वी विचारक, नामों और पद्धतियों में अन्तर होते हुए भी परम-सत्य की इकाई में अखण्ड विश्वास रखते हैं।

उपर्युक्त दस तथ्यों के जोर पर आदर्शवाद की शक्ति स्वीकार करते हुए हम शिक्षा के क्षेत्र में इसके दार्शनिक-आधारों के दखल का अध्ययन करेंगे। प्रो० एच० एच० हार्न के ही मतानुसार हम अपने विषय को पांच भागों में बांटेंगे और उनकी निजी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे— (क) शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा, (ख) पाठ्य क्रम, (ग) अध्यापन विधि, (घ) शिक्षा में सामाजिक रुचि, तथा (ङ) शिक्षा और जीवन के लक्ष्य।

शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा—

शिक्षार्थी या विद्यार्थी के सम्मुख सबसे पहला प्रश्न उसके अपने ही अस्तित्व के सम्बन्ध में उठता है। आदर्शवाद, जब कि व्यक्तित्व की महत्ता और सार्थकता पर उपरिलिखित पंक्तियों में पर्याप्त जोर दे चुका है, तो यहाँ पुनः विद्यार्थी को स्वतन्त्र व्यक्तित्व-रूप में देखने के लिए वे ही तर्क जुटाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। हाँ, यहाँ अपनी स्थिति की पुष्टि के लिए हम आदर्शवाद के विरोध में आने वाले अन्य सिद्धान्तों द्वारा विद्यार्थी के अस्तित्व पर प्रस्तुत किए गए मन्तव्यों से कुछ सहायता लेना अनुचित नहीं समझते। भौतिकवाद (Materialism) शिक्षार्थी को शिक्षा का पदार्थ-निमित्त स्वीकार करता है। उसके अनुसार छात्र मन और

मस्तिष्क, आत्मा या भाव का कुछ भी आधार नहीं रखता। वह भूत है, और जिस प्रकार से बाहरी उपायों द्वारा किसी भी भूत को अपेक्षित-परिवर्तन प्रदान किया जा सकता है, वैसे ही छात्र को भी सुसभ्य और सुसंस्कृत बनाने के लिए अध्यापक का दण्ड-देव साधक हो सकता है। प्रकृतिवाद (Naturalism) सम्पूर्ण विश्व को एक ऐसे सूत्र में बंधा स्वीकार करता है। जो यान्त्रिक रीति से उसे क्रमानुसार चलाता ही रहता है। जिस प्रकार बिजली का एक बटन दबा देने से सम्पूर्ण मशीन क्रमवत चालू हो जाती है और बाद में उसे किसी प्रकार के उलट फेर की आवश्यकता नहीं पड़ती, ठीक इसी प्रकार संसार चक्र चल रहा है। इस चक्र में आने वाला प्रत्येक अंश स्वयमेव उसकी चाल से प्रभावित होता, कालानुसार अपेक्षित साँचे में ढलता और व्यवस्था बनता चला जाता है, इसमें छात्र भी विश्व यन्त्र का एक पुर्जा मात्र ही रह जाता है। उसे अपनी प्रगति के लिए अपने को परिस्थितियों के साँचे में ढालना और जगत के काल-चक्र के साथ व्यवस्था बनाना अनिवार्य है। यदि वह ऐसा करने में सफल है तो वह आदर्श प्रकृतिवादी-छात्र कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकता है। दूसरे, और अधिक सुलझे शब्दों में प्रकृतिवादी शिक्षा में जंगल का नियम कार्यान्वित रहता है 'जिस प्रकार से भेड़ियों के जंगल में छोड़े जाने वाले कुत्ते या तो अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अपने नख-दान्त भेड़ियों जैसे तेज़ बना लेंगे, अन्यथा सदा के लिए मिट जाएंगे,' वैसे ही प्रकृतिवाद छात्रों को प्राकृतिक व्यवस्था में परिस्थिति-अनुसार अपने में परिवर्तन लाने की क्षमता बनाने पर जोर देता है। वह नहीं चाहता कि किसी बाह्य-सुधार की सहायता से छात्र को बौद्धिक विकास की ओर बढ़ाया जाए। प्रकृति के प्रांगण में पोषित छात्र स्वयं काल-क्रमानुसार अनुभव के बल पर संस्कृति की तथ्यता का बौद्धिक परिग्रहण करेगा। इतना ही नहीं, प्रकृतिवाद मनुष्य को स्वभावगत भला स्वीकार करता है और उसकी मान्यता है कि किसी अन्य के (सिखलाने वाले के) हस्तक्षेप से ही उसमें बुराई पैदा होती है। प्रकृति ने प्रत्येक वस्तु सम्यक् और नीति संगत बनाई है, मनुष्य के अनावश्यक दखल से वह विकृत हो जाती है।[1] अतः प्रकृतिवाद छात्र की स्वतन्त्र सत्ता या व्यक्तित्व स्वीकार ही नहीं करता। उसका शिक्षार्थी प्रकृति चक्र का एक उपकरण है, जो उसी के क्रम में अनुभव द्वारा अपने और प्रकृति के सम्बन्धों का ज्ञान प्राप्त करता है। तभी तो रूसो ने शिक्षा के तीन आधार—

---

१. 'Everything is good as it comes from the hands of the author of Nature; but everything degenerates in the hands of man'.—

—Rousseau.

प्रकृति, मनुष्य और वस्तुएँ—स्वीकार करने पर भी प्रकृति द्वारा प्राप्त शिक्षा को उत्तम माना है, क्योंकि केवल उसी से हमारी आन्तरिक शक्तियों और अवयवों का अनुरूप विकास सम्भव है।[1] व्यवहारवाद (Pragmatism) भौतिकवाद और प्रकृतिवाद, दोनों से ऊपर निजी विशिष्टता रखता है। वह छात्र को न तो पदार्थ-निर्मित मानता है और न 'व्यावहारिक यन्त्र' ही कह कर पुकारता है। व्यवहारवाद का छात्र व्यष्टित्व लिए हुए सर्व-भिन्न इकाई है। वह स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रखता है। व्यष्टित्व (Individuality) तो केवल एक से दूसरे को जुदा मात्र कर सकता है, परन्तु व्यक्तित्व (Personality) छात्र में स्वतन्त्रात्मा और चेतनता की अभिव्यंजना करता है। यह ठीक है कि व्यक्ति में निजत्व होता है, परन्तु सम्भवतः विश्व का प्रत्येक प्राणी, यहाँ तक कि जड़ जगत भी अपने में कोई न कोई निजत्व तो रखता ही है। हाँ व्यवस्थापन-शक्ति अनुभव तथा आदर्शान्वेषण आदि की प्रवृत्तियाँ केवल मनुष्य में ही हो सकती हैं। अस्तु, फिर भी व्यवहारवाद व्यष्टित्व पर अधिक जोर देता है, व्यक्तित्व पर नहीं। परन्तु सच्चाई यह है कि जो अध्यापक व्यवहारवाद की विचारधारा का पोषक होगा; वह सम्भवतः कभी शिक्षार्थी पर अपने दार्शनिक-सिद्धान्त की व्यावहारिकता नहीं दे सकेगा।

ऊपर हम भौतिकवाद, प्रकृतिवाद और व्यवहारवाद तीनों मुख्य दार्शनिक-सिद्धान्तों के आश्रय छात्र का स्वरूप वर्णन कर चुके हैं। सबमें कोई न कोई क्षति है, कोई न कोई दुर्बलता है। किसी ने उसकी भौतिकता को देखा तो दूसरे ने उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को; किसी सिद्धान्त ने उसकी शिक्षा ही अनावश्यक स्वीकार की तो किसी ने उसे यन्त्र-वत्-कर्ता माना। ऐसे में छात्र की सम्भाव्य-शक्तियों (Potential capacities) को कोई सर्वांगीण-लक्ष्य नहीं कर सका। इसकी पूर्ति की आदर्शवाद ने। आदर्शवाद, शिक्षा के दार्शनिक-सिद्धान्त के नाते छात्र को ऐसा परिमित व्यक्तित्व स्वीकार करता है जो उचित शिक्षा प्राप्त करने पर अपने में अपरिमित एकम् के गुणों का विकास करता है। इसका उत्पादक स्वयं ब्रह्म है। स्वतन्त्रता उसकी प्रकृति है और अमरता उसका लक्ष्य।[2]

---

१. Education from Nature is the 'internal development of our Faculties and Organs.' —Rousseau.

२. That the learner is a finite person, growing, when properly educated, into the image of an infinite person, that his real origin is deity, that his nature is freedom, and that his destiny is immortality. — H. H. Horne

आदर्शवाद के मतानुसार 'शिक्षार्थी लक्ष्य-सिद्धि होने पर शिक्षित-व्यक्ति होता है। शिक्षित-व्यक्ति कोई जटिल यान्त्रिक-रचना नहीं, वह Conditional Reflexes का संकलन मात्र भी नहीं हो सकता, और ना हीं केवल दूसरों से उच्च-प्राणी या सुसंस्कृत व्यवसायी कहना—उसके लिए पर्याप्त है। वह तो एक सुसंस्कृत व्यक्तित्व है, जो सदा अधिक संस्कृत और महान् मानव बनने की ओर गतिशील रहता है।' आदर्शवादी छात्र का मानदण्ड **पूर्णता की वाञ्छा** (Will to Perfection) है। वह जो कुछ भी करता है या करना चाहता है, उसमें अपने सामर्थ्य-अनुसार सर्व-शक्ति-केन्द्रित हो जुट जाता है। ज्ञान-वर्द्धन उसका उच्चतम लक्ष्य होता है। वह सभी उचित ढंगों और योग्य साधनों से बुद्धि बटोरता है। नीति उसका साध्य होती है, सुन्दरता उसकी प्रेरक और विचार-शक्ति उसकी पथ-प्रदर्शिका। वह समाज और जाति के साथ अपने अटूट सम्बन्ध जोड़ता है, जो उसकी अच्छाइयों के संगति-गत प्रभाव के कारण समाज और जाति की भी उन्नति का आधार बनते हैं। आदर्शवादी छात्र अपने व्यावसायिक गुणों का भी इतना परिवर्द्धन करता है कि उसके प्रत्येक कार्य में प्रभावोत्पादकता के साथ साथ परिपक्वता और आकर्षण रहता है। वह सदैव पूर्णता की ओर अग्रगामी होता है, क्योंकि वहीं पर उसमें आदर्श मानवता की आशा की जा सकती है। ऐसा छात्र अध्यापक या माता-पिता किसी के लिए भी कष्टप्रद नहीं होता। वह शान्त, स्निग्ध और तर्कयुक्त सुलझी हुई विचार-धारा में बहना ही अपना ध्येय बनाता है और यहीं उसमें आदर्श भावनाएँ जगती हैं।

हार्न के मतानुसार 'आदर्शवादी छात्र की भाँति ही आदर्शवादी शिक्षक भी शिक्षा क्षेत्र में पूर्णता की विधि को अपनाता और सुसंस्कृत व्यक्तित्व को लक्ष्य करता है। आत्म-ज्ञान (Self-consciousness), आत्म-निर्देशन (Self Direction), आत्म-क्रियाशीलता (Self-activity), निजत्व या व्यष्टित्व (Selfhood), आन्तरिक-आध्यात्मिक-विकास (Inner Spiritual growth) आदि उपकरण उसे बहुत प्रिय होते हैं। वह स्वयं सम्यक् व्यक्तित्व धारण करने का सद्प्रयास करता है, तथा अपने शिष्यों में भी वैसी ही सम्यकता का सुप्रचार करता है। उसका मन उच्चानुभूतियों की ओर खुले बन्धो उड़ता है। प्लाटो और एमर्सन सरीखे लेखक उसके प्रोत्साहन दाता होते हैं।······वह सामाजिक-सम्पर्क द्वारा दूसरों को समझने में बड़ी उत्सुकता रखता है।······आध्यात्मिक-विकास के क्षेत्र में उसे सहगति प्रिय है। वह दूसरों के साथ मिलकर ही जीवनानन्द का भोग करता है। साधारण रूप में वर्णित मूक तथ्यमात्र उसके लिए प्रर्याप्त नहीं। वह उन तथ्यों की पृष्ठभूमि में क्रियान्वित भावों को महसूस करना चाहता है और उनकी सार्थकता तथा

सांकेतिकता, दोनों की गहराई तक पहुँचना अपना कर्तव्य समझता है।...... वीर-पूजा (Hero-worship) का स्थान भी उसके मन में ऊँचा रहता है, क्योंकि हमारा विकास स्वभावतः उस व्यक्ति सा ही हो जाता है, जिसे हम प्रेम करते हैं।'

पाठ्य-क्रम—

शिक्षार्थी का आदर्शवादी स्वरूप जान लेने के पश्चात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है, कि उसे क्या शिक्षा दी जाए। इस 'क्या' का वास्तविक उत्तर छात्र की परिस्थितियों तथा सामाजिक-अवयवों पर केन्द्रित माना जाता है। छात्र जिस प्रकार के वायुमण्डल या स्थिति-घेरे में रहने का आदी होता है, वैसे ही उसके विचार बन चुके होते हैं। उसका भावी रहन-सहन उन्हीं विचारों के अनुसार विकसित होता है; विचार पनपाने में रहन-सहन की कोई सहायता अपेक्षित नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि उसके विचारों को किसी महान् आदर्श की ओर ले जाने को लक्ष्य बनाकर उनकी शिक्षा का क्षेत्र निश्चित करना दर्शन का कर्तव्य होगा। दर्शन में आदर्शवादी सिद्धान्त शिक्षण-परिधि में आकर भी विद्यार्थी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, मनस् की वास्तविकता और आत्मा की अमर साधना के तथ्यों के प्रति उदासीन नहीं हो जाता। सम्भवतः यही कारण है कि आदर्शवादी शिक्षा-प्रणाली छात्र का स्वरूप जान लेने के उपरान्त उसकी शिक्षा का क्षेत्र (पाठ्य-क्रम) भी स्वयं निर्णीत कर देना आवश्यक मानती है।

'पाठ्य-क्रम' किसे कहते हैं? पाठ्य का अर्थ है 'अध्ययनीय' और क्रम का अर्थ है 'व्यवस्था'। अतः पाठ्य-क्रम निर्देशन की उस व्यवस्थित योजना को कहा जाता है जो छात्र और उसके समाज की आवश्यकताओं के अनुसार, उसमें व्यक्तित्व के विकास के प्रतिपालन हेतु क्षमता पैदा कर सके। अर्थात् शिक्षण का वह क्षेत्र, जो छात्र के जीवन में भौतिक, बौद्धिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास को लक्ष्य करे, पाठ्य-क्रम कहलाता है। 'पाठ्य-क्रमेतर-गतिविधियाँ' यद्यपि छात्र की क्रियाशीलता में विशेष महत्त्व रखती हैं, तथापि छात्र की पाठ्य विषय तथा उसकी स्कूल या स्कूल के बाहर की स्वतन्त्र रुचियों में जो अन्तर हो सकता है, वही पाठ्य-क्रम तथा क्रमेतर-गति-विधियों में है।

प्रश्न उठता है कि शिक्षार्थी के विकास में अतीव महत्त्वपूर्ण इस पाठ्य-क्रम का निश्चय किन ठोस आधारों पर किया जाए? ध्यान रहे कि आधारों का सम्बन्ध उन सभी संस्थाओं से होना अनिवार्य है, जिन पर शिक्षार्थी के पनपने का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता रहता है। ये संस्थाएँ शिक्षार्थी का परिवार,

समाज, जाति और राष्ट्र सभी हो सकती हैं। शिक्षार्थी की अपनी आवश्यकताएँ तथा विश्व सत्ता की इकाई होने का गौरव भी हमारे विचार-केन्द्र में उपेक्षित नहीं रहने चाहिएँ। यह ठीक है कि शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षार्थी और शिक्षक जितना महत्त्व रखते हैं, उतना पाठ्य-क्रम नहीं, तो भी स्कूलों का अस्तित्व सम्भवतः इसीलिए विद्यमान है, कि जनता की जानकारी में उनके बच्चों को वहाँ वे ही चीजें सिखाई और पढ़ाई जाती हैं जो उनके दृष्टिकोण में कल्याणोद्गत हैं, पतनोन्मेषक नहीं। अतः प्रत्येक माता-पिता अपने बालक के स्कूल में प्रवेश करने से पूर्व स्कूल में पढ़ाए या सिखाए जाने वाले विषयों की अनुक्रमणिका देखकर अपनी सन्तुष्टि कर लेना नैसर्गिक-कर्म मानेगा। तभी तो डा० स्टैनले एच० रोल्फ़ ने पाठ्य-क्रम के महत्त्व की स्वीकृति की पुष्टि में लिखा है, 'स्कूलों का अस्तित्व तथा उनके प्रति जनता का सहयोग केवल इसीलिए दृष्टिगत होता है कि लोगों का दृढ़ विश्वास बनता जा रहा है कि देश के भावी नागरिकों, लड़के और लड़कियों को शिक्षा के व्यवस्थित आयोजन की अत्यावश्यकता है। स्कूल का पाठ्य-क्रम छात्र के विकास की दिशा का निर्णय ही नहीं, अपितु समाज की उन्नति के मोड़ का ज्ञान भी करवाता है। अतः शिक्षा-शास्त्रियों को पाठ्य-क्रम के विकास और विस्तार को विशेष महत्त्व देना चाहिए तथा इस परिवर्तनशील युग में प्रस्तुत प्रश्न को अपने निरन्तर उत्तरदायित्व रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।'[१] पाठ्य-क्रम के आधारों के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये संकेतों से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि शिक्षा-क्रम निर्धारित करने से पूर्व तीन मुख्य बातों का ध्यान रखना चाहिए—बच्चों की योग्यता और आवश्यकताएँ, उनके समाज की माँग तथा उनका वातावरण। इन तीनों

---

१. Schools exist and are publically supported because citizens believe that a planned program of education is necessary for the adequate development of boys and girls, the future citizens of the country (America). The schools' curriculum determines to a great extent in which direction pupil growth and in fact, society, will move. Therefore, curriculum development and improvement are the most important tasks, educators can undertake and, in an era of rapid change, must be accepted as a continuous responsibility—Dr. Stanley H. Rolfe, Newyork Times, January 12, 1941. (Quoted by H. H. Horne in AnIdealistic Philosophy of Education.

बातों में पहली का उत्तर मनोविज्ञान (Psychology), दूसरी का समाज-शास्त्र (Sociology), तथा तीसरी का दर्शन (Philosophy) की सहायता से खोजा जा सकता है। अतः कहना न होगा कि पाठ्य-क्रम के निर्माण में इन तीनों विज्ञानों की आवश्यकता रहती है और इनकी सहायता से बनाया गया पाठ्य-क्रम न केवल पाठक की ही सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूर्ण करता है, प्रत्युत समाज और विश्व एकत्व का भी पूरा पूरा ध्यान रखता है। यदि अधिक गहराई तक न जाया जाए तो मनोविज्ञान द्वारा वर्णित मनुष्य-मन की तीनों स्थितियों की तुष्टि तो पाठ्य-क्रम में होनी ही चाहिए। वे स्थितियाँ हैं विचार-शक्ति (Thinking), अनुभूति (Feeling), तथा वाञ्छा (Willing)। विचार-शक्ति के विकास-आश्रय वे सब विषय हो सकते हैं, जिनमें प्रज्ञा का स्थान ऊँचा रहे और अपने ही तर्कों या अनुसन्धानों द्वारा आत्म निर्णय की भावना सजीव रहे। अनुभूति या भावुकता का आश्रय कलाएँ हो सकती हैं। सब प्रकार की कलाओं में ललित कलाओं (Fine Arts) को ऊँचा माना जाता है, क्योंकि उनके निर्माण और अनुभव में आत्माभि-व्यक्ति (Self-Expression) के साथ साथ अलौकिक-आनन्द की प्राप्ति होती है। यह मानव-मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ने वाली कलाएँ हैं। मनुष्य भाव-जगत में खोकर अनेक प्रकार की कृतियों द्वारा अपने मानस् और उसमें छिपी दुःख-सुख की अनुभूतियों का प्रकटीकरण करता रहता है। इसमें कभी कविता और कभी चित्र और संगीत उसके आधार होते हैं। वाञ्छा का आश्रय कुछ करने की इच्छा पर निर्भर रहता है। मनुष्य के लिए बिलकुल निठल्ला बैठे रहना असम्भव-प्राय होता है। वह कुछ करना चाहता है, करता है और उसी में उसकी क्रियाशील प्रवृत्ति की संतुष्टि होती है। प्रस्तुत सन्तुष्टि भी वास्तव में कला पर ही आधारित है, परन्तु वह कला ललित न होकर व्यावहारिक होती है (Practical Art)। इस वाञ्छा या प्रवृत्ति से मनुष्य उद्योगी बनता है और जिस प्रकार के भी विशिष्ट उद्योग की शिक्षा उसे दी जाती है, वह उससे अपनी क्रियाशील प्रवृत्ति की ही संतुष्टि नहीं, बल्कि अपनी आजीविका कमाने का साधन भी प्रस्तुत कर सकता है। स्पष्ट ही हमें पाठ्य-क्रम को तीन भागों में बाँटकर चलना चाहिए, ऐसी प्रेरणा उपर्युक्त व्याख्या से प्राप्त होती है, वे तीन भाग होंगे—विज्ञान, ललित कलाएँ तथा व्यावहारिक कलाएँ। मनुष्य के बौद्धिक-विकास को लक्ष्य करने वाले विज्ञानों में रसायन-शास्त्र (Chemistry), पदार्थ-विज्ञान (Physics), जीव विद्या (Biology), भूगोल (Geography), गणित (Mathematics), मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, राज-नीति, खगोल विद्या (Astronomy) आदि का नाम लिया जा सकता है। भावुकता का परिवर्द्धन करने वाली ललित कलाओं में निर्माण, मूर्त्ति, चित्र, संगीत और काव्य

की गिनती होती है। सब प्रकार की औद्योगिक कलाएँ (Industrial Arts), व्यापार, खेती बाड़ी और मिट्टी खोदने की मजदूरी से कारखाना चलाने की योग्यता तक सब कार्य तीसरे खण्ड में प्राप्त होंगे। इसमें सन्देह नहीं उपर्युक्त सब प्रकार के विषय एक समय में कोई भी विद्यार्थी अध्ययन नहीं कर सकता। उसे अपनी रुचि के अनुसार इनमें से विज्ञान और कलाएँ चुननी होंगी और उनका विशिष्ट अध्ययन कर विशेषज्ञ बनना होगा। तभी वह सच्चे अर्थों में आदर्शवादी शिक्षार्थी कहला सकेगा। सम्भव है ऐसी साधना में उसे वर्षों लग जाएँ, परन्तु इस मार्ग से विचलित होना उसे आदर्श-हीनता के गर्त में गिरा सकता है। इन तीनों प्रकार के पाठ्य विषयों से क्रमशः उसकी बुद्धि, सौन्दर्य-परक ज्ञान (Aesthetic sense) तथा उद्योग की शक्ति बढ़ेगी। 'विद्यार्थी स्वयं विवेकशील, सहृदयी तथा क्रियाशील बनेगा। विश्व के भिन्न अनुभव तथा जीवन की जटिलताओं को सुलझाने के उपक्रम में, सम्भवतः व्यक्ति-विशेष के निर्देशन पर व्यवस्थित-अध्ययन द्वारा भी, संसार का सम्पूर्ण-आलोचन कर सकेगा। ये सब मिलकर उसका जीवन-दर्शन बन जाएगा और वह विश्व-व्यवस्था, भगवान या धर्म के प्रति निश्चित दृष्टिकोण बनाने में सफल हो जाएगा।'

रस्क (Rusk), पाठ्य-क्रम को मनुष्य की दो प्रकार की आवश्यकताओं पर आधारित करता है—शारीरिक और मानसिक। प्रथम स्थान वह शारीरिक आवश्यकताओं को देता है। उसका मत है कि यदि मनुष्य की शारीरिक तुष्टि न हो और वह भौतिक या पदार्थ जगत् के गुणों से पराभूत न हो सके तो वह मानसिक या आध्यात्मिक जगत्, जो शारीरिक संसार से ऊँचा है, की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर बढ़ ही नहीं सकता। अतः उसके मतानुसार शिक्षा के क्षेत्र में सिखाए जाने वाले कार्य भी दो भागों में बँट जाने चाहिएँ—१. शरीर की रक्षा। २. कला-कौशल। शारीरिक रक्षा का ढंग सचमुच आदर्शवादी शिक्षा का महत्वपूर्ण संकेत है, यदि विद्यार्थी शारीरिक रूप से दुर्बल और रुग्ण रहे तो वह मानसिक जगत् में भला क्या उन्नति कर सकता है? कहा भी है 'सबल शरीर में ही सबल मन रहता है।' (A sound body has a sound mind)। शरीर की शिथिलता के कारण मन और आत्मा भी शिथिल पड़ जाते हैं। जैसे गन्दे और बदबूदार मकान में रहने वाला व्यक्ति रोगी हो जाता है, वैसे ही गन्दे और क्षीण शरीर में रहने वाला मन रोगी हो जाता है। अतः कितना गम्भीर विचार है यह कि 'शरीर की रक्षा' के विषय को पाठ्य-क्रम में ही सम्मिलित कर लिया जाए। इसके अन्तर्गत छात्रों का समय अनुसार खाना, खेलना और व्यायाम करना, रोगमुक्त रहने के सुढंग, स्वास्थ्य-वर्द्धक क्रियाओं को लक्ष्य करना आदि अनेक विषय आ जाते हैं। पुनः मानसिक सन्तुष्टि और विकास से पूर्व मनुष्य का आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होना भी सम्भवतः रस्क अनिवार्य समझता है। तभी तो शारीरिक

कार्यों में वह 'कला कौशल' पर जोर देता है। उपर्युक्त अनुच्छेद में जिसे हमने व्यावहारिक-कला कहा है वही इसका लक्ष्य है। किसी एक उद्योग का आश्रय लेकर विद्यार्थी अपनी आजीविका सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त हो सकता है। परिश्रम से जी नहीं चुराता, हर कार्य में लगन रखता और उसे कौशलपूर्वक करना सीख जाता है। इतना सब कुछ हो चुकने के बाद कहीं मानसिक-कार्यों की बारी आती है, जिनसे आत्मा की उन्नति के प्रसाधन जुटाए जाते हैं। प्रस्तुत कार्य चार प्रकार के होते हैं—१. बौद्धिक; २. नैतिक, ३. सौंदर्य परक, ४. धार्मिक। बौद्धिक कर्म वे ही हैं जिन्हें ऊपर विज्ञान-अध्ययन के रूप में लिखा जा चुका है। मनुष्य की विचारशक्ति तथा विवेक का विकास इन्हीं कर्मों द्वारा सम्भव है। इनमें अध्ययन, समालोचन, तर्क, शास्त्रार्थ तथा विश्लेषण-संश्लेषण आदि सभी प्रकार के कृत्य सम्मिलित हैं। इनसे मनुष्य में आत्म-निर्णय करने का सामर्थ्य जगता है, शुद्ध और अशुद्ध का ज्ञान बढ़ता है और अपनी जटिलतम समस्याओं का विश्लेषण कर समाधान ढूँढने की शक्ति उत्पन्न होती है। सौन्दर्य की परख विद्यार्थी की अनुभूति या भावुकता द्वारा प्रस्तुत की जाती है। ललित कलाओं को ही सम्यक् आश्रय बनाकर निर्भीकता से कहा जा सकता है कि मनुष्य, सौंदर्य-प्रिय मनुष्य, जो आनन्द-अन्वेषी प्राणी होने के साथ-साथ स्थायित्व का लोभी भी है, निश्चय ही ऐसी शिक्षा की अपेक्षा रखता है; जो उसे सौन्दर्य सम्बन्धी सच्चा ज्ञान दे सके। क्योंकि सौन्दर्य उस 'पूर्ण' का एक गुण है, जिसमें अपनी अपूर्णता को दुखी आदर्शवादी विद्यार्थी स्वयं पूर्ण बनने के चक्कर में रहता है। यह 'पूर्ण' सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् सब कुछ है। तो फिर उसकी पहचान में सौन्दर्य परक ज्ञान की उपेक्षा क्योंकर हो सकती है। पुनः सौन्दर्य स्वयं सत्य भी है। कीट्स का कथन है, "सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य, बस इतना ही तुम जानते हो और इससे अधिक जानने की आवश्यकता भी नहीं।" अतः मानसिक तुष्टि के क्षेत्र में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सौन्दर्य परक कर्मों का सम्मिश्रण निस्सन्देह एक बहुत बड़ी नैसर्गिक आवश्यकता की पूर्ति है। इस प्रकार के पाठ्य विषय लेने वाला विद्यार्थी निश्चय ही कला का सच्चा पारखी बन जाता है और सौन्दर्य साधन से अपनी मानसिक-वृत्तियों को सम्यक् भोजन जुटाने में सफल रहता है।

तत्पश्चात् नैतिक और धार्मिक कर्मों की बारी आती है। नैतिक कर्मों से क्या मानसिक तुष्टि मिलती है, यह समझने के लिए हमें भिन्न प्रकार की चेतनाओं को समझना होगा। चेतनाएँ प्रायः चार प्रकार की होती हैं। पहली प्रकार की चेतना १. भौतिक चेतना कहलाती है। इसमें देखना, सुनना, स्पर्श, गन्ध, स्वाद आदि की अनुभूतियों की गणना की जाती है। दूसरी प्रकार की चेतनाएँ मानसिक चेतनाएँ होती हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। तीसरी तरह की अनुभूतियाँ सामाजिक

अनुभूतियाँ कहलाती हैं। इनमें परोपकार, उदारता, दानशीलता, करुणा, प्रेम आदि की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। चौथी और सर्वोन्नत अनुभूतियाँ आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होती हैं, इनमें मनुष्य ब्रह्मैक्य के अनुभव को प्राप्त करता है। उपर्युक्त चारों प्रकार की अनुभूतियों या चेतनाओं में तीसरी प्रकार की अनुभूतियाँ (सात्विक) ही वास्तव में नैतिक कर्म हैं। शिवम् और अशिवम् की पहचान, पाप और पुण्य की जड़ता, सद्-व्यवहार, सद्वृत्तियाँ, विश्व प्रेम तथा मानववाद नैतिकता के आश्रय हैं। इन गुणों के विना मात्र बुद्धि सचमुच मनुष्य की मनुष्यता को कोल्हू की भाँति कुचल देती है। उसका जीवन एक नीरस तर्क शास्त्री की भाँति अनावश्यक दिमागी संयम में टकराहट पैदा करता हुआ ही समाप्त हो जाता है। उनके हृदय में कभी प्रेम की शुभ्रा-धार नहीं बह पाती और न ही वह किसी क्षेत्र में सहृदयता का मूल्यांकन करने के योग्य ही रहते हैं। नैतिकता सचमुच बुद्धि और संवेगों में व्यवस्था स्थापित करने का एक गुरु-तर सूत्र है, जिसके विना जीवन, जीवन नहीं, बोझ और मृत्यु-भयंकर-शून्यता सा रह जाता है। पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा की मांग भी कुछ कुछ ऐसे ही कारणों से होती है। धार्मिक शिक्षा विद्यार्थी में विश्वास या श्रद्धा की मात्रा बढ़ाती है। बुद्धि और श्रद्धा का समन्वय ही परमानन्द का द्योतक हो सकता है। अतः जहाँ बौद्धिक विकास को लक्ष्य किया गया है, वहाँ विश्वास का संकेत भी मिलना ही चाहिए। अविश्वास द्वारा सर्वाङ्गीणता मनुष्य में प्रायः अभिमान का बीजारोपण करती है, जो जीवन में न केवल अनैतिकता ही लाता है प्रत्युत जीवन-यात्री को सीधे और समतल राज मार्ग से हटा कर कीच भरी टेढ़ी मेढ़ी पगडंडियों पर फेंक देता है। अतः कर्त्तव्य के प्रति श्रद्धा की भावना जगाने के लिए धार्मिक शिक्षा की महत्ता स्वीकार्य ही है। हाँ, इतना प्रश्न अवश्य उठता है, कि नैतिक शिक्षा की उपस्थिति में धार्मिक शिक्षा की क्या अपेक्षा रह जाती है? क्या नैतिक शिक्षा ही धार्मिक शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर देती? उत्तर सहज ही है। धर्म का मुख्याधार कोई अति-मानवीय शक्ति रहती है, परन्तु नैतिकता मानव की मानवता के आश्रय पनपती है। नास्तिक व्यक्ति नैतिक और एक धार्मिक जन भी अनैतिक हो सकता है। ईश्वर में विश्वास न रखने वाले के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उदार हृदयी न हो और ईश्वर को सर्वव्यापी मानने वाले से किसी के साथ घृणित दुर्व्यवहार की अपेक्षा किया जाना भी स्वाभाविक हो सकता है। अतः समाज में पनपने के लिए धर्म की, तथा मन की शुद्धि के लिए नीति की शिक्षा भी पाठ्य-क्रम में आनी ही चाहिए। उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि पाठ्य-क्रम बनाते समय उसके कई भिन्न-भिन्न अवयवों का पूरा ध्यान रखना अनिवार्य है। सच तो यह है कि पाठ्य-क्रम की सफलता तब तक सम्भव नहीं हो सकती, जब तक वह विद्यार्थी को अपनी परिस्थितियों में व्यवस्थित होना नहीं सिखा देता। मनुष्य संसार में विचरण

करता हुआ भिन्न दिशाओं या घटनाओं को समझता, अनुभव करता और समय-समय पर करुणा या आनन्द का लाभ प्राप्त करता है। उसे अपनी परिस्थितियों में व्यवस्थित होने के लिए सुख और दुःख की बीच की दशा चाहिए। कवि सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में—

जग पीड़ित रे अति दुःख से, जग पीड़ित रे अति सुख से।
मानव जग में बँट जावें, दुःख सुख से, सुख दुःख से॥

ऐसी ही स्थिति में मनुष्य 'सुखी' और 'खुश' रह सकता है, ऐसा आदर्शवाद का विश्वास है।

यहाँ आदर्शवादी प्रणाली द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित करने के साथ-साथ 'विद्यालयों का ध्येय कहाँ केन्द्रित होगा' इस पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। आदर्शवाद स्कूल को बालक-केन्द्रित या समाज केन्द्रित नहीं स्वीकार करता है। उसके अनुसार तो स्कूल आदर्श-केन्द्रित होना चाहिए। स्कूल न बीते युग की गाथा सुनाने की संस्था है, और ना ही वर्तमान के यथा तथ्य को पुरस्कृत करने का स्थान। स्कूल का लक्ष्य 'क्या है' नहीं 'क्या होना चाहिए' होता है। किसी भी स्थिति का उच्च तथा शुभ्रतम स्वरूप प्राप्त करने के लिए सद्प्रयास करना स्कूल और उसके संचालकों का कर्त्तव्य है। प्रस्तुत आदर्शों का निर्णय शुद्ध-दार्शनिक-सिद्धान्त (आदर्शवाद का) द्वारा किया जाता है। जैसे विश्व में विद्यार्थी ने पनपना है, वैसे ही विश्व के उन्नत गुणों को पूरे रूप में विकसित करना आदर्श केन्द्रित विद्यालयों का उद्देश्य बन जाता है। यथा एक गणतन्त्र राज्य के स्कूलों में आदर्शवादी प्रणाली बालकों को निजी शासन (शासितों की इच्छानुसार शासन), सामाजिक स्वतन्त्रता, परम प्रसन्नता का अनुसरण, सामान्य-कल्याण-भावना, विवेकशील निर्णय आदि का सर्वांगीण और उन्नत ज्ञान देगी। इन लक्ष्यों में कुछ व्यक्तिगत हैं और कुछ समाजगत; अतः व्यष्टि और समष्टि के समन्वय का एकमात्र और उच्चतम लक्ष्य आत्म-ज्ञान (Self Realisation) ही विद्यालयों का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए। ध्यान रहे, आत्म-ज्ञान समाज और व्यक्तिगत दोनों की वास्तविकता प्रदर्शन के साथ-साथ विश्व मानव की व्यवस्था को भी प्रस्तुत करता है। यहाँ कुछ एक शिक्षा प्रणालियाँ यह गलती करती हैं, कि जब विद्यार्थी का व्यक्तित्व उसके साथ स्वतन्त्र है, उसमें फेर-फार हो नहीं सकता, तो फिर विद्यालय और अध्यापक की आवश्यकता ही क्या है। सम्भवतः इन प्रणालियों के प्रचारक यह समझते हैं कि जब गधे को गाय बनाया ही नहीं जा सकता, तो साबुन उसे छुआ ही क्यों जाए। परन्तु नहीं, वे भूल जाते हैं कि साबुन लगाने से यदि गधा गाय नहीं बनेगा तो कम से कम साफ-सुथरा और गधों में सुन्दर गधा तो बन ही जायेगा। आदर्शवादी शिक्षा

शास्त्री गोभी को गुलाब के रूप में नही, अपितु गोभी को उसकी सम्पूर्ण सम्भाव्यता के साथ विकसित देखना चाहता है। इस समस्या का उत्तर हमें फ्रॉबेल के बालोद्यान (Kindergarton) के सिद्धान्त में मिल जाता है। वह स्कूल को बच्चों का बाग कह कर पुकारता है। अध्यापक का स्थान उसमें एक कुशल माली का स्थान है। ठीक है कि माली बाग में उगने वाले गुलाब को बदल कर गोभी नहीं बना सकता, परन्तु ऐसा वातावरण और सिंचाई तो प्रस्तुत कर सकता है जिससे गुलाब और गोभी दोनों अपने उत्कृष्टतम रूप में खिल उठें। साधारण परिस्थितियों में पौधे साधारण फूल-फल देंगे, यह प्रकृति का नियम ही है। परन्तु यदि माली उनके प्रति सतर्क रहे, धूप और दूव से उनकी रक्षा करता रहे तो वे अधिक सुचारु रूप से विकसित होंगे और अधिक आकर्षक फूल या फल देंगे। प्रकृतिवादी किसी भी प्रकार के फूल को स्वीकार कर सकता है परन्तु आदर्शवादी को तो उत्कृष्ट फूल चाहिए। अतः आदर्शवाद व्यक्ति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्वीकार करता हुआ भी उसे शोभनीय परिस्थितियाँ प्रदान करता है ताकि उसका वर्तमान स्वरूप अपनी उत्कृष्टतम स्थिति को प्राप्त कर सके। आरम्भ वह पहले से ही शुभ मानता है। उसके मन में बालक ईश्वर के घर से आने वाला 'फ़रिश्ता' है, अतः यदि सद्प्रयास किया जाए तो वह फ़रिश्ते का फरिश्ता ही बना रह सकता है।

अध्यापन विधियाँ—

अध्यापन विधियों के सम्बन्ध में आदर्शवाद कोई निजत्व नही रखता। वे ही विधियां, जो अन्य शिक्षा प्रणालियों ने अपनाईं, या सामान्य रीति से जो ग्राह्य मानी जा सकती हैं, आदर्शवाद ने स्वीकार कीं। कभी कभी तो शिक्षण-विधि में निजत्व की कमी होने के कारण कुछ विचारक यहाँ तक कहने का साहस करते हैं कि आदर्शवाद शिक्षा में केवल लक्ष्य-संकेत ही देता है, लक्ष्य सिद्धि के उपाय (विधियां) नहीं सुझाता। परन्तु हम ऐसा तो स्वीकार नहीं करते। यह सच है कि आदर्शवाद कुछेक उच्चतम लक्ष्यों को मनुष्य का गन्तव्य-स्थान (Destination) बनाता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो भी सम्भव-असम्भव मार्ग मिलता है उसी पर चरणांकित करता है। इतिहास साक्षी है कि समय समय पर अवतरित होने वाले आदर्शवादी दार्शनिकों या विचारकों ने दूसरों को अपने विचारों की शिक्षा देने के लिए अनेक प्रकार के विचित्र और कभी कभी हास्यास्पद ढंगों को अपनाया और आदर्शवादी लक्ष्यों को तत्कालीन जनता के मर्म तक पहुँचाने में सफल रहे। सुक्रात (Socrates) ने प्रश्न-विधि (*Question Method*) को अपनाया था। वह अपने प्रश्नों के ज़ोर पर ही दूसरों के उत्तरों का समन्वय अपना साधन बनाता था। बाजार के किसी भी कोने में खड़े होकर

जनता को इकट्ठा कर लेना और उनसे नीति सम्बन्धी प्रश्न करना उसकी दैनिक चर्या थी। उसके शिष्य प्लाटो (अफ़लातून) ने उसकी प्रश्न-विधि को वार्तालाप में बदल कर, साथ ही तर्क की पुट देनी शुरू की। अरस्तु (Aristotle), ने जो कि प्लाटो का शिष्य था, अपने गुरु से तर्क विद्या सीखी थी और दादा गुरु की परिभाषा और निर्णय की नीति का प्रभाव भी प्लाटो के माध्यम से उस तक पहुँच चुका था। अतः वह पूरा तर्क-शास्त्री बन गया और दोनों ओर से Inductive और Deductive तर्क विधियों को अपना कर अपनी विचारधारा की शिक्षा देता रहा। डेकार्ट्स Descartes) साधारण से जटिल की ओर चलने की विधि को अपनाए रहा। कांट (Kant Immanuel) किसी भी प्रकार की अनुभूति में a priori तथा (a Posteriori तत्वों में अन्तर स्पष्ट करना ही अपनी विधि समझता था। हेगल ने प्लाटो की तर्क विधि तथा अरस्तु की शास्त्रीय पद्धति ही दोहराई। पेस्तॉलोजी शिक्षा को विद्यार्थी में केन्द्रित देखने की इच्छा रखने के कारण: शिक्षा के एन्द्रिय और क्रियाशील आधारों को अपनी विधि बनाकर चला। हरबार्ट, बुद्धिवादी होने के नाते शिक्षा-प्रणालिका में कुछ नये विचारों का परिचय देने में सफल हुआ। हरबार्ट की प्रसिद्ध विधि अध्यापन क्षेत्र में कई भिन्न दशाओं को स्वीकार करती है— यथा सर्वप्रथम शिक्षार्थी के मन में आगामी पाठ के प्रति उत्सुकता जगाना। पूर्वज्ञान से उसका सम्बन्ध जोड़ते हुए उसके अन्तर उसकी आवश्यकता का स्वरूप बिठा देना। तत्पश्चात् नवीन सामग्री को क्रम से विश्लेषणात्मक रूप में छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करना। पुनः, दिये गये विचारों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों के सम रूपों से तुलना और सम्बन्ध की व्याख्या करना। इतना सब होने के पश्चात् चौथी स्थिति में प्रस्तुत सामग्री, अन्य विषयों से तुलना और सम्बन्ध को मिला कर सामान्य-नियम-स्थापना की जाती है। इस प्रकार पाठ का अन्त होता है; परन्तु हरबार्ट अपनी अध्यापन-विधि को अधिक परिपक्व बनाने के लिये पाँचवीं स्थिति में सम्पूर्ण पाठ की पुनरावृत्ति पर भी जोर देता है। फ्रॉबेल आत्म-क्रियाशीलता (Self Activity) की विधि को ही अपने बाल-उद्यान का आधार बनाना चाहता है। उसके मतानुसार खेलों (Playway Method) और गीतों से ही बालक का शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास हो सकता है। बौद्धिक-विकास इन तीनों का स्वयमेव अनुसरण करता है। इस प्रकार पुरातन आदर्शवादी शिक्षा शास्त्रियों से ले आधुनिकतम विचारकों तक, सबने कोई न कोई तो विधि अपनाई ही है—अतः आँख-मूँदे यह कह देना कि आदर्शवादी-शिक्षा-पद्धति केवल लक्ष्य ही प्रदान करती है, साधन नहीं, अनाधार और अविवेक पूर्ण होगा।

उपर्युक्त ऐतिहासिक व्याख्या के अतिरिक्त हमारे मत में आदर्शवादी-शिक्षा-प्रणाली कई अन्य विधियाँ भी अपना सकती है, और आज तक अपनाती आ रही है।

व्याख्यानविधि (Lecture Method) प्रायः आधुनिक युग में हर स्थान पर प्रयुक्त होती है। कालेजों और विश्व-विद्यालयों के प्राध्यापक इसी को स्वीकार्य मानते हैं, परन्तु सदा नहीं। इसका प्रभाव अस्थायी होता है और साधारणतः मुहई सुस्त और गवाह चुस्त वाला किस्सा देखने को मिलता है। इसकी अपेक्षा तर्क-विधि (Discussion Method) हमारी समझ में अधिक उपयुक्त रह सकती है। उसी के समकक्ष वाद-विवाद (Debating) का ढंग भी ग्राह्य हो सकता है। इस प्रकार किसी भी विषय के पक्ष और विपक्ष का सुनकर वर्णन किया जा सकता है, बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने आप वर्णन हो जाता है। छोटे बच्चों के लिए कहानी-सुनाना (Story Telling) तथा कुछ बड़े किशोर बालकों के लिये परस्पर वार्तालाप-विधि (Conversational Method) पर्याप्त सहायक हो सकती है। माध्यमिक शिक्षा के इच्छुकों को नाटक-विधि (Dramatics) द्वारा भी शिक्षा दी जाती है। प्रयोग शाला-विधि (Laboratory Method) भी काम में लाई जाती है। बालक के सम्बन्ध में बहुत सी बातों को जानने और पदार्थ विज्ञान के अनुसन्धानों को सिखाने में इस विधि से बहुत सहायता मिलती है। बालकों में अनुकरण करने की आदत होती है। उनके इस स्वभाव का पूरा लाभ शिक्षक द्वारा उठाया जा सकता है। वह उन्हें अनुकरण विधि (Imitation) से शिक्षा दे सकता है। जैसा वह स्वयं करेगा, वैसा ही बच्चे भी करेंगे। उदाहरण के लिए एक एक वर्ण या शब्द का बोलना और लिखना तथा बच्चों द्वारा उनका अनुकरण किया जाना। बड़े और चतुर वयस्कों को पत्र व्यवहार (Correspondance) द्वारा भी शिक्षा दी जा सकती है। ध्यान रहे कि इसका क्षेत्र बहुत सीमित है और सीमित ही रहेगा। हॉर्न के मतानुसार भाषा के बोलने की शिक्षा देने के लिये प्राकृतिक-विधि (Natural Method) का प्रयोग भी किया जा सकता है, यद्यपि व्याकरण तथा भाषा विज्ञान का ज्ञान देने में यह विधि अधूरी है। श्रवणेन्द्रियों तथा दर्शनेन्द्रियों को बाह्य सहायताओं (Audio-Visual-Aids) से भी परिपक्वावस्था तक पहुँचाया जा सकता है। निरीक्षण-यात्राएं (Observation Trips) लगभग हर आयु के विद्यार्थियों के लिये ज्ञान-वर्द्धक हो सकती हैं। इस विधि में बिना परिश्रम के ही छात्रों में रुचि उपजाई जा सकती है। १० से १५ वर्ष तक की अवस्था के बालकों के लिये वाह्य-परीक्षण (Objective tests) की विधियों का प्रयोग भी किया जा सकता है। मनोविज्ञान साक्षी है कि इस प्रकार के परीक्षण बालक की बुद्धि की तीव्रता केवल नापते ही नहीं बल्कि बढ़ाते हैं। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए सेमिनार-पद्धति बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। सेमिनारों की यदि रिपोर्टें तैयार की जाती रहें, तो अधिक लाभप्रद योजना बन सकती है। विद्यार्थियों में आत्म सहायता (Self-Help) का तत्त्व बढ़ाने के लिये डॉल्टन-विधि भी अपना स्थान रखती है।

सब प्रकार की उपर्युक्त विधियों की व्याख्या के बाद स्वभावतः ही यह प्रश्न उठेगा कि कौन सी विधि अधिक उपयोगी होगी और समयानुसार उसका चुनाव क्योंकर किया जाएगा । इसके उत्तर में मैं यह पहले से कह देना चाहता हूँ कि हमें छात्र को पढ़ाना होता है, विषय को नहीं । इसलिये अध्यापन विधि का सम्बन्ध छात्र से रहता है, विषय के स्वरूप से कदापि नहीं । छात्रों में व्यष्टित्व होता ही है अतः अध्यापक के लिये प्रत्येक छात्र को जुदा जुदा ढंग से पढ़ाना असम्भवप्राय हो सकता है । इनसे बचने और योग्य कर्म कर दिखाने के लिये अध्यापक को चाहिए कि वह अपने छात्रों की अवस्था, वर्ग में छात्र संख्या, उनकी रुचि, बुद्धि की परिपक्वता, पाठ का उद्देश्य तथा उसकी तैयारी आदि सब कुछ ध्यान में रखकर ही किसी विधि का परिग्रहण करे । इसकी अनुपस्थिति में बहुत सम्भव है कि शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों डगमगाते रह जायें, उद्देश्य-कूल पर कोई भी न आ पाए ।

शिक्षा और समाज—

प्रश्न उठा कि शिक्षा दी कहाँ जाए । उत्तर मिला 'सामाजिक वातावरण' में । क्यों ? समाज ही एक ऐसी संस्था है, जिसमें मनुष्य ने अन्त तक पनपना है । मनुष्य और समाज का सम्बन्ध मांस से नाखून का सम्बन्ध है । पुनः शिक्षा का काम है सुधार और वह तभी एक संशोधित समाज प्रस्तुत कर सकती है, जो उसके घुटे वातावरण का आत्मानुभव प्राप्त करे । वैसे भी शिक्षालय और समाज परस्पर इतना गम्भीर सम्बन्ध रखते हैं कि उन्हें एक दूसरे से अपनी स्वार्थ पूर्ति खोजनी होती है । समाज शिक्षालयों को चलाने, बढ़ाने और उठाने के लिए धन देता है । वह धन किसी न किसी विशेष आशय से ही दिया जाता है । उसके बदले समाज अपनी उन्नति के मेरुदण्ड नेताओं की उत्पत्ति की आशा रखता है । सामूहिक-उत्थान के लिए सद्नागरिकों की इच्छा करता है, साथ ही साथ आवश्यकतानुसार भिन्न औद्योगिक क्षेत्रों के विकास के लिए कुशल कार्यकर्ताओं को लक्ष्य बनाए रहता है । इस सबसे प्रकट है स्कूलों में समाज की ओर से जो आर्थिक रुचि दृष्टिगत होती है, वह स्कूलों के लिए नहीं, समाज के लिए ही है । समाज का ही स्वार्थ उससे परिपूरित है । सच मानिये, समाज की ओर से जो व्यय शिक्षालयों पर किया जाता है, वह अपने ही स्वत्व की रक्षा तथा उन्नति के लिए किया जाता है । अतः यदि हम यह कहें कि शिक्षालय समाज के दर्पण होते हैं, तो कोई अत्युक्ति न होगी । चूंकि समाज को स्कूल द्वारा अपने स्वत्व की रक्षा करनी होती है । वह ऐसे ही स्कूलों का पोषण करता है, जो उसके स्वरूप का न केवल प्रचार ही करें, बल्कि विकास का कारण भी बनें । उदाहरण के लिए आज यदि किसी देश में गणतन्त्रात्मक पद्धति का समाज

विद्यमान है, तो उसके स्कूलों में वे ही नियम लागू दिखेंगे और देखने वाला उन नियमों और विशेषताओं के परिचय मात्र से समाज के वास्तविक चित्र की कल्पना कर लेगा । व्यापारिक समाज स्कूलों में व्यापार की शिक्षा देगा, धार्मिक भावनाओं से पराभूत समाज धार्मिक-शिक्षा को ही लक्ष्य बनाने का प्रयास करता रहेगा । और सांस्कृतिक समाज के स्कूल वैसे ही सांचे में ढले रहेंगे । संसार के बड़े बड़े देशों की नीति को समझने के बाद उनके शिक्षालयों का चित्र देखिये, आपको उसी नीति में ढली हुई वहाँ की शिक्ष-प्रणाली दिखेगी ।

स्पष्ट ही समाज अपने ढाँचे में शिक्षालयों को उतार कर उनके पोषण का दम भरता है; बदले में शिक्षालय समाज की उन्नित में सहायक बनता और कर्मशील रहता है । प्रत्येक जिम्मेवार समाज दूसरे समाज को पैनी आलोचनात्मक दृष्टि से देखता और अपनी उन्नति की कल्पना करता रहता है । प्रो० हार्न के मतानुसार भिन्न समाजों के उत्थान का विचार भी भिन्न होता है । प्रत्येक के लिये अपना आदर्श या नमूना ही ऊँचा होना स्वाभाविक है । संसार का प्रत्येक समाज निरन्तर परिवर्तनशील कहा जा सकता है । जहाँ नित्य नवीन आदर्शों को लक्ष्य बनाया जाता है, वहाँ उन्नति और जहां आदर्शों की उपेक्षा होती है, वहां समाज अवनति की ओर अग्रसर होता रहता है । सभी समाजों का क्रमवत् उत्थान संसार की आवश्यकताओं से दूर की बात है । ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जब विश्व-समाज की स्थापना हो । आज के युग में तो प्रत्येक समाज का लक्ष्य भिन्न है, स्वरूप भिन्न है, क्रिया क्षेत्र भिन्न है, और भिन्न है उसकी विचारधारा । फिर भी कुछ एक ऐसी स्थितियाँ हैं, जहाँ विश्व के सभी समाज एक मत हो जाते हैं—यथा स्वास्थ्य, बौद्धिक-विकास, कला, न्याय, चरित्र-निर्माण, व्यवसाय, धर्म, कर्त्तव्यपालन आदि । ये लक्ष्य सभी समाजों के सामूहिक संकेत है, अतः सभी बिना किसी भेदभाव के अपने शिक्षालयों में इनकी शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं । विधियों में अन्तर हो सकता है, आदर्शों या स्थितियों में अन्तर हो सकता है, मार्गों मे अन्तर हो सकता है, परन्तु गन्तव्य स्थान एक ही रहता रहेगा । प्रकट है कि समाज जो कुछ भी स्वयं बनना चाहता है अपने स्कूल में वही स्वरूप वह प्रस्तुत करता है । सच तो यह है कि स्कूल के माध्यम से समाज अपने ही भावी-स्वरूप का निर्माण करता रहता है ।

पीछे हम यह सिद्ध कर आए है कि शिक्षालय समाज के उत्थान में पर्याप्त सहायक होता है । यहाँ आदर्शवादी विचारधारा का विद्यालय समाजोन्नति में क्योंकर सहायक हो सकता है, इस पर भी विचार करना अप्रासंगिक न होगा । प्रो० एच. एच हार्न के विचारानुसार सामाजिक-परिवर्तन में विद्यालयों द्वारा पाँच प्रकार से हाथ बटाया जाता है । प्रथमतः विद्यालय समाज के भावी विकास का स्वरूप निर्धारित करते है । समाज-

शास्त्र, राजनीति तथा साहित्य के अध्यापक-प्राध्यापक अपनी पैनी-दृष्टि की नोक पर भविष्य और भूत को परख कर कुछ नवीन सम्मितियाँ प्रस्तुत कर सकते हैं, जो समाज को सन्मार्ग पर चलाने में सहकारी हो सकती हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें युवकों-युवतियों के मानस में सामाजिक-परिवर्तन के प्रति सहयोगी भावनाएँ भरनी होंगी। पुनः यथा गुरु तथा शिष्य की कहावत को चरितार्थ मानते हुए यह अनुभव किया जा सकता है कि अध्यापक की विचारधारा का प्रभाव उसके वर्ग के विद्यार्थियों पर प्रायः पड़ा ही करता है और वे अपने जीवनादर्शों को उसी ढाँचे में ढालने या बनाने का स्वप्न देखा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी भिन्न अध्यापकों द्वारा परस्पर प्रतिकूल विचार मिलने पर विद्यार्थी के अन्तर में उलझन पैदा हो सकती है, परन्तु अधिकतर दशाओं में ऐसी ही उलझनों को सुलझाने के लिए तो शिक्षार्थी का बौद्धिक-विकास सहयोग देता रहता है। उदाहरण के लिए युद्ध से पूर्व जर्मनी शिक्षा का साक्षात् नमूना हमें मिलता है। वहाँ के शिक्षालयों में अध्यापक की जबान इस प्रकार बाँध दी गई थी कि यदि वह टर्राये भी तो केवल नाजीइज्म का गुणगान हो। और वहाँ के समाज का जो भावी विकास हुआ, वह किसी से छिपा नहीं। कहने का अभिप्राय यह कि अध्यापन का प्रभाव छात्रों अर्थात् भावी नागरिकों पर अमिट अंकन कर देता है, और वहीं से समाज के स्वरूप का निर्माण होता है।

दूसरे, हमारे विद्यालय सामाजिक नेतृत्व और अनुकरण की शिक्षा देते हैं। बहुत से विचारकों का यह मत रहा है कि प्रजातन्त्र का सर्वप्रथम उद्देश्य हमारे में नेता निर्वाचित करने की क्षमता जगाना है। समय-समय पर विद्यालयों में पनपने वाले विद्यार्थी भविष्य के सामाजिक, राजनैतिक या साहित्यिक नेता हो सकेंगे, भला इसे आज कौन पहचानता है। परन्तु फिर भी हमारे ध्यान से विद्यालय ही वे उत्पादक संस्थाएँ कही जानी चाहिएँ, जिनमें नेता पनपते हैं और अनुयायी दम लेते हैं। यहाँ भावनगर में हमारे ही सामलदास कॉलिज में गाँधी के विद्यार्थी-जीवन में किसने कल्पना की होगी कि वह एक दिन राष्ट्रपिता के पद को प्राप्त करेगा। आज भी गाँधी-स्मृति (भावनगर की एक संस्था) में उनका शिक्षा सम्बन्धी अनुलेख देखने से स्पष्ट होता है कि उसमें अध्ययन के क्षेत्र में भी कोई असाधारणता नहीं थी, जिससे कि सम्भवतः किसी ने उसकी भावी महानता का अनुमान किया हो। ऐसे में हम इसी निर्णय पर तो पहुँच सकते हैं कि विद्यालय नेतृत्व और अनुकरण, दोनों क्षेत्रों में हमें सामग्री प्रस्तुत करते हैं और समाज को आगे बढ़ाने में सहयोग देते हैं।

तीसरे, स्कूलों के माध्यम से उचित सामाजिक प्रणालियों का समर्थन और अनुचित रीति-रिवाजों का विरोध किया जा सकता है। वास्तव में देश की भावी-निधि विद्यालयों की चहारदिवारियों में विकसित हो रही है। यदि उन विद्यार्थियों के मस्तिष्क में

सामाजिक-नियमों के औचित्य-अनौचित्य के सम्बन्ध में योग्य विचार विठाए जाएँ, तो निःसन्देह बालकों और युवकों का नवलता-प्रिय मन अनौचित्य के प्रति विद्रोह कर उठेगा। और धीरे-धीरे विद्रोह की यह चिंगारी सुलगती हुई जब ज्वाला बन जाएगी, तो समाज की त्रुटिपूर्ण स्थिति के खोट को भस्म कर शेष कीमिया समाज-संस्कृति का आदर्श बनाकर सबके सम्मुख प्रस्तुत करेगी। भारत की परिस्थितियों के अनुसार विद्यालयों में दहेज-विरोधी विचारधारा, विधवा-विवाह-पक्षी वार्ताएँ आदि समाज में कई प्रकार की नारी समस्याओं का समाधान बन सकती है। नैतिकता सम्बन्धी उपदेशों का रुचिकर प्रस्तुतीकरण इसके औचित्य को अधिक आसानी और प्रभावोत्पादक रूप में समझा सकने का सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार समाज को आगे बढ़ाने में विद्यालय उसकी उन्नति में उचित-प्रणालियों पर जोर देकर उसके सम्भाव्य संघर्ष का निराकरण करते हैं।

चौथे, स्कूल या कॉलेज सामाजिक समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से हल करने में सहायता दे सकते हैं। आज के युग में इस स्थिति की उत्कट माँग की जाती है कि सामाजिक समस्याओं के छुटपुट हल ढूँढ़ने की अपेक्षा किसी स्थायी और क्रमिक समाधान की खोज होनी चाहिए। प्रस्तुत आवश्यकता पूर्ति किसी प्रकार के शास्त्रीय ढंग को अपनाए बिना असम्भव-प्राय-सी दिखती है, और उसके अभाव का कारण है संकुचित-हृदयता। स्पष्ट ही संकुचित-हृदयता का अन्त कर देना विद्यालयों का कर्त्तव्य बन चुका है। यदि छात्रों में कर्म की लग्न बढ़ाई जाए और फल को पूर्णतः गौण बना दिया जाए तो निश्चय ही वे प्रत्येक समस्या का हल निष्पक्ष होकर ढूँढने का प्रयत्न करेंगे। उनके निष्पक्ष प्रयत्नों में क्रम होगा, व्यवस्था होगी, तर्क होगा और होगी अनुसन्धान-प्रवृत्ति। समाज की उन्नति में समस्या-समाधान का यह नूतन ढंग विद्यालय और समाज के सम्बन्धों को अति निकट खींच लेता है।

पाँचवें, स्कूलों द्वारा समाज के पुरातन और व्यवस्थित आदर्शों को भूतकाल से वर्तमान काल मे लाया जा सकता है। अतीत के स्वर्णिम-पृष्ठ, जो समाज के पतन के कारण गल-सड़-से गए हों, वे स्कूलों या कॉलेजों द्वारा दोबारा प्रकाश में लाए जा सकते हैं। शिक्षालय वास्तव में वे साधन हैं, जो समाज की खोई निधियाँ पुनः खोज निकालते हैं। अनेक प्रकार की नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक पद्धतियोंकी, जो श्रेष्ठ और श्रेयस्कर हों और जिन्हें परिस्थितियों के तूफ़ानी झक्खड़ों में समाज गँवा चुका हो, पुनःप्राप्ति हो सकती है। आज जिस राम-राज्य की बात बापू कहते रहे, उसका आधार यही पाँचवीं स्थिति थी। राम-युगीन समाज के गुण वे आज के समाज में लाना चाहते थे; और उसका एक मात्र माध्यम हो सकता था शिक्षालय। आधुनिक काल में यदि छात्रों को राम-काल के गुणों की ओर प्रेरित किया जाए तो बहुत सम्भव है कि वे उन

में से कुछेक अपना ही लें और आज भी राम-युग का समाज पुनर्निर्मित कर सकें ।

शिक्षालयों द्वारा समाज के इस संशोधन के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण कार्य की नींव रखी जा सकती है, और वह है आदर्श-सामाजिक-व्यवस्था (Ideal Social Order)। शिक्षा-केन्द्र होने के नाते स्कूल या कालेज समाज के विकासात्मक-आधार होते हैं। वे ऐसे स्रोत हैं, जिनमें व्यवस्था की फुहारें छूटती हैं और जो उच्चादर्शों के शीतल जल-कणों मंगल-भावी का संदेश देते रहते हैं। उदाहरणतः, आज भारत को एक नवीन और औचित्य प्रधान समाज की अपेक्षा है। आज तक भारतीय-समाज की प्रत्येक इकाई में दासता के कारण मानसिक कुटिलता भरी रही है। उसे निकाल कर नव-निर्माण का एक ही रास्ता है, और वह है नई पौद को जागृति देना। आज के विद्यालयों के छात्र ही तो कल भारतीय प्रजातन्त्र की बागडोर सम्भालने वाले हैं, और यदि उनके मस्तिष्क में आवश्यक समानता के विचार, स्वतन्त्रता की मानसिक-अनुभूति का मूल्य, अपकृष्ट सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रति विद्रोह, धर्म के क्षेत्र में विशाल-हृदयता, स्वार्थान्धता का विरोध, नास्तिकता का मोह, शान्ति और प्रेम का महत्व, वीर पूजा की क्षमता, विश्व-बन्धुत्व का लक्ष्य, परस्पर कुटिलता का त्याग और सेवा, सहयोग, कर्त्तव्यपालन का अपनाना आदि चेतनाएँ भर दी जाएँ तो निःसन्देह वे आने वाले युग में एक आदर्श समाज की रचना करने में सफल होंगे। इस प्रकार एक युग-विशेष की पूरी की पूरी पौद के विचार, भाव, संवेदनाएँ, लक्ष्य और संकेत, सब कुछ बदल कर नये युग का आह्वान किया जा सकता है। उनमें दुष्प्रवृत्तियों का दमन और उपर्युक्त आदर्शों की स्वीकृति समाज, जाति और राष्ट्र को मूलतः परिवर्तित कर देने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकेगी। इसी को हम निःसंकोच आदर्श-व्यवस्था कह सकेंगे और उसका साधन बनेंगे हमारे शिक्षा केन्द्र। स्पष्ट है कि आदर्शवादी-शिक्षा धारा के अनुसार युग परिवर्तन के नये रूप केवल सैद्धान्तिक ही न रह कर व्यावहारिक रूप धारण कर सकेंगे। यही आदर्शवाद की सफलता का द्योतक होगा।

शिक्षा और जीवन के उद्देश्य—

आदर्शवाद, शिक्षा और जीवन दोनों के उद्देश्यों की समान अनुभूति प्रस्तुत करता है। इसका सैद्धान्तिक मत है कि शिक्षा के उद्देश्य कभी जीवन के उद्देश्यों से भिन्न नहीं हो सकते। आज तक जीवन की सर्वोत्तम स्थिति (विशेषतः सम्भाव्य) ही शिक्षा का लक्ष्य रही है। शिक्षा जीवन की सफल अभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि बनाने का साधन है और सदा से उन्हीं उद्देश्यों को सत्य मानती आई है, जो जीवन के लिए उन्नति का मार्ग बनाते हैं। वे सब आदर्श जिन्हें आदर्शवादी दर्शन-सिद्धान्त योग्य मानता है, इस शिक्षा-प्रणाली में क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के महान मूल्यों

की प्राप्ति को ही आदर्शवाद ने आज तक ग्राह्य समझा है। उसका सत्य, शिव या सुन्दर किसी सीमा में बद्ध नहीं। वह परम सत्य है, उच्चतम शिव (Summum Bonum) तथा महान् सौन्दर्य है। इन गुणों से पराभूत हमारे पास केवल एक ही शक्ति है, जिसकी खोज और जिसके साथ तादात्म्य स्थापित करना (भारतीय विचार-धारानुसार जीवन और शिक्षा का उद्देश्य यही रहा है) ही जीवन है। ठीक है कि जीवन में संघर्ष, साधना और उत्साह के स्थान ऊँचे हैं, परन्तु ये सब भी उसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन मात्र ही तो हैं। अब प्रश्न उठता है कि मानव-प्रकृति की मुख्य आवश्यकताएँ क्या हो सकती हैं? ये आवश्यकताएँ ही धीरे-धीरे संशोधित रूप में जीवनोद्देश्य बनती हैं और शिक्षा इन्हीं की पूर्ति के लिए कटिबद्ध होती है।

मनुष्य की आवश्यकताएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती है—शारीरिक और मानसिक। मनन् की प्रेरणा और शरीर की क्रियाशीलता दोनों मिलकर मनुष्य को निर्माणात्मक कर्मों की ओर बढ़ाते रहते हैं। उसके कर्म अपने तथा उसके अन्य साथियों के लिए विशेष लाक्षणिकता लिए रहते हैं। उसके विकासात्मक व्यक्तित्व पर उसके कर्मों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहता है। जीवन में सुख, शान्ति और सुविधा खोजने के लिए उसे परिश्रम भी करना पड़ता है, जिसका फल उसकी शारीरिक पुष्टि, अनुभव-सिद्धि और बौद्धिक-विकास के रूप में उसे मिलता है। अनुभव उसके (मनुष्य के) जीवन में परिपक्वता तथा बुद्धि उसकी क्रियाओं को संयत स्वरूप देने और औचित्य प्रदान करने का साधन बनती है। अपनी विचार शक्ति से वह अपने ज्ञान में वर्द्धन करता और क्रम की मात्रा को बढ़ा लेता है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य की आरम्भिक आवश्यकताएँ उन वस्तुओं से सम्बन्ध रखती होंगी, जो पहले से ही ईश्वर प्रदत्त रूप में उनके पास हैं। उसके पास शरीर है, तो उसकी रक्षा का मूल मूल्यांकन स्वास्थ्य (या शरीर-रक्षा) जीवन की प्रथम साधना हो सकती है। पुनः वह क्रियाशील और परिश्रमी है, उसे किसी न किसी उद्योग-धन्धे की आवश्यकता है। इससे वह आजीविका उपार्जन कर सकता है, जिससे शरीर की अन्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति की जा सकती है। मनुष्य के पास मन है, मस्तिष्क है, आत्मा है। जिस तरह उसके शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन की आवश्यकता है, वैसे ही उसके मन-मस्तिष्क आदि के स्वास्थ्य के लिए भी 'भोजन' की अपेक्षा रहती है। मन के रहने से मनुष्य भावुक है, उसमें सद्वृत्तियाँ और दुर्वृत्तियाँ दोनों निवसित हैं। उचित या अनुचित समय में वे उत्तेजित भी हो उठती हैं। भावावेश में आकर वह कभी कभी दुर्दम्य भी हो उठता है। सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियों के संघर्ष के कारण, बीच में कभी परिस्थितियों से पछाड़ खाकर, मनुष्य 'सद्' का त्याग कर 'दुः' को ग्रहण कर बैठता है। यहाँ उसके जीवन में मानसिक-

अव्यवस्था का घोर आन्तक बना रहता है। उसे आवश्यकता है मानसिक सन्तुलन बनाये रखने की, और उसकी सम्भावना है 'सद्' के परिपक्व होने तथा भावुकता की शान्ति में। 'सद्' की परिपक्वता केवल उसके नैतिक हो जाने में निहित है। भावुकता की शान्ति दो प्रकार से सम्भव है—एक तो यह अपनी करुणा को विपरीत जाति के प्रेम में भुला दे, दूसरे सौन्दर्य निर्झर के विमलोदक में डुबा दे। पहली स्थिति में उसे एक प्रेरक नारी की आवश्यकता रहती है, दूसरी स्थिति में कला ज्ञान की। मस्तिष्क के लिए अपनाया जाने वाला भोजन अतिरिक्त ज्ञान, तर्क, विचार, शास्त्रार्थ और समालोचन के और क्या हो सकता है? मनुष्य जन्म-जात विचारक है, उसकी यह तृष्णा केवल इन्हीं चीजों से तृप्त हो सकती है। आत्मा जीवन-तत्व है। उसकी सन्तुष्टि विश्व-जीवन से एकत्व प्राप्ति में ही सम्भव है। अतः संसार में रहते हुए मनुष्य की आत्मा उसी उच्चतम-आदर्श को लक्ष्य करती हुई सच्चे सुख और शान्ति को लाभ कर सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन की मूल आवश्यकताएँ स्वास्थ्य, सभ्यता, नीति, सौन्दर्य-पान, ज्ञान-वर्द्धन, आध्यात्मिक-तुष्टि आदि ही हैं। इन्हीं आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति ही मानव-जीवन का उद्देश्य कहा जा सकता है। पीछे संकेत किया जा चुका है कि आदर्शवाद शिक्षा और जीवन के उद्देश्यों में कोई भेद नहीं देखता। यहाँ यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है। आदर्शवादी पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत हम पहले भी देख चुके हैं कि मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का ध्यान रखते हुए पाठ्य-विषयों का सुझाव दिया गया है। यहाँ जीवन के विस्तृत उद्देश्यों में सांकेतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य दिखती ही है। अतः अब उन्हीं उद्देश्यों को आदर्शवादी शिक्षा के उद्देश्य सिद्ध करने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

सिद्ध हो चुका है कि शिक्षा समाज के विकास और उत्थान में पूरा सहयोग देती है। परन्तु यह भी तो निर्विवाद सत्य है कि बिना व्यक्तिगत उन्नति के, सामूहिक उन्नति नहीं हो सकती; यही कारण है कि जीवन के व्यष्टि स्वरूप में समष्टि का समन्वय प्रस्तुत करने के लिए आदर्शवादी शिक्षा प्रणाली जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति और उसकी उच्चतम सम्भाव्यता (Highest potentiality) को ही लक्ष्य किये रहती है। पाठ्य-विषयों में व्यावहारिक और ललित कलाओं को सिफारिश जीवन की क्रियाशील और सौन्दर्य परक प्रवृत्तियों की तुष्टि का आधार पहले ही बन चुकी है। विज्ञानों के अध्यापन की सम्मति स्पष्ट ही मस्तिष्क का भोज्य है; नैतिक विषयों का पाठ मनस् की शान्ति का पोषक और धार्मिक शिक्षा की परिपाटी आत्मा में विश्वास का बीजारोपण कर मानव की

आन्तरिक तृप्ति का साधन-मात्र ही तो है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि जीवनोद्देश्यों को ही आदर्शवादी शिक्षा ने अपना लक्ष्य बनाया है और सफलतापूर्वक उनकी पूर्ति की ओर अग्रसर हुई है।

उपर्युक्त वर्णन 'शिक्षा में आदर्शवाद' के अध्याय का वास्तविक रूप आपके सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसमें छात्रों के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता, जीवनोद्देश्यों के अनुसार पाठ्य-क्रम निर्मिति, अनेक प्रकार की अध्यापन-विधियाँ, समाजोत्थान में शिक्षालयों का सहयोग, जीवन तथा शिक्षा के लक्ष्यों की अनुरूपता आदि जो विषय हमने कुछ गहराई तक जाकर वर्णित किये हैं, उनको पैनी दृष्टि से देखने पर कहीं कहीं स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि कथित आदर्शवाद केवल पाश्चात्य पृष्ठभूमि पर ही पनप रहा है, उसमें भारतीय आदर्शों का स्वरूप या महत्व नहीं आ पाया। अभिप्राय यह कि प्रस्तुत शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शवाद पाश्चात्य-विचारधारा तक ही सीमित रहने और कुछेक असुविधाओं के कारण कई एक प्रश्नों का सतर्क उत्तर देने में असमर्थ रहा है। उदाहरण के लिए आत्म-ज्ञान या आत्माभिव्यक्ति के द्वारा आत्म-ज्ञान की सम्भावना पर लगभग यह सिद्धान्त मौन सा रहा है। केवल एक संकेत मात्र से ही प्रवाह आगे ठेल दिया गया है। इसी प्रकार अध्यापन-विधियों के क्षेत्र में आधुनिक आदर्शवाद कोई विशेष स्पष्टता नहीं दे पाया---मूक इशारे अनेक विधियों की ओर दीख पड़ते हैं, परन्तु कोई विशेष जोर किसी पर उपलब्ध हो, ऐसा कदापि नहीं। प्राचीन दार्शनिकों ने जो कुछ विधियाँ प्रयोग की थीं, वे उनके विशिष्ट व्यक्तित्व और प्रचार-विषय के अनुकूल थीं—परन्तु सामान्य परिस्थिति का सम्भवतः कोई विचार ही सामने नहीं रखा गया। इन न्यूनताओं की ठीक ठीक पूर्ति हमें भारतीय आदर्शवादी परम्परा में प्राप्य है। निस्सन्देह भारत अपनी अक्षमता के कारण आठवीं शताब्दी के पास पास ही अपनी वह महान् शैक्षणिक-परिपाटी खो बैठा था; परन्तु भारतीय संस्कृति का वैदिक युग साक्षी है कि जब अभी पश्चिम में इसी बात का निश्चय नहीं हो पा रहा था कि विश्व का निर्माण तत्त्व क्या है और बालकों सरीखे परिहासात्मक समाधान ढूँढे जा रहे थे, उस समय भारत में एक प्रौढ़ तथा आदर्श-वादी विचारधारा पर आधारित शिक्षा-प्रणाली चल रही थी। मानता हूँ कि वैज्ञानिक युग की दृष्टि में उसके कुछ दोष खटकेंगे जरूर, परन्तु सभ्यता के उस अपरिपक्व दौर में जो कुछ समय शिक्षा-क्षेत्र में भारत द्वारा दिया गया, वह अमर साधना है, परम सत्य है और है एक तथ्यात्मक-अनुभूति जिसका लक्ष्य वही पुराना सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का गान तो था ही, साथ ही वह प्रणाली छात्र के लिए ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से कुछ भी कम लक्ष्य ही स्वीकार नहीं करती थी। उस शिक्षा-धारा में विद्यार्थी का शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास केवल आध्यात्मिक तुष्टि तक पहुँचने

का सोपान था और जीवन के मुख्य चार उद्देश्यों, काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष में से शिक्षा शेष तीन को माध्यम चाहे बनाए, लक्ष्य केवल मोक्ष को ही करती थी। आदर्शवाद का एक सार्थक नमूना थी भारत की वह शिक्षा। अतः संक्षिप्त वर्णन यथा स्थान ही होगा।

भारतीय-विचारधारा—

आदर्शवाद के पावनतम रूप का विकास सबसे पहले भारतवर्ष में ही हुआ था। ऋग्वैदिक और उत्तर ऋग्वैदिक काल की शैक्षणिक परम्परा के अवलोकन से पता चलता है कि भारतीय आदर्शवाद का लक्ष्य परमानन्द से कुछ भी कम न था। ऋग्वैदिक शिक्षा का उद्देश्य परब्रह्म के नित्य-सत्य के ज्ञान की प्राप्ति था जो कि परमानन्द की साधना का मात्र-प्रतीक कहा जा सकता है। उस युग में शिक्षा की विधियाँ भी तप और योग के नाम से अपनाई जाती थीं। शिक्षार्थी के लिए प्रकृति के प्रांगण में शुभ्र-वसना दिवाविभूति तथा ज्योत्स्ना का आंचल ही पुण्यात्मक समझा जाता था। संयम विद्यार्थी का आभूषण था, वीतराग उसकी थाती थी और ब्रह्मत्व उसका लक्ष्य। ऐसे पुनीत वातावरण तथा सम्बद्ध-सीमित भावनाओं को अपनाकर शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करता था और उसकी वह आदर्शवादी शिक्षा काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष सबकी सिद्धि का आधार बनती थी।

गुरु के आश्रम में रहने और हार्दिक सेवा के बदले शिक्षा की प्राप्ति के सहारे छात्रों को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का भी लाभ होता। उन्हें व्यवसाय का अनुभव प्रत्यक्ष में न भी मिलता तो उनके कर्त्तव्यों में गोपालन की साधना को सम्मिलित कर पार्श्व में उद्यम के लिए छात्रों को सुयोग्य तो बनाया ही जाता। इतना ही नहीं उनके मानस में धर्म और नीति के विचार भर कर अपेक्षित जीवनादर्शों की ओर प्रेरित किया जाता। शास्त्रीय ज्ञान तथा विवेक-सम्पन्नता का अवलम्ब गुरु के उपदेशों पर युक्त रहता। आत्म-शुद्धि और परमानन्द की संस्थित नींव उनकी योग-साधना होती। अतः इस प्रकार सभी तत्त्वों और तथ्यों को मिला कर तत्कालीन छात्रों को शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक, सर्व-सम्पन्न विकास प्राप्त होता।

आधुनिक युग की अपेक्षा तत्कालीन शिक्षण विधियाँ परिस्थिति जन्य स्वरूप की उपस्थिति में भी बहुत ऊँची थीं। शिक्षा प्रणाली दृढ़ न होते हुए भी कुछ ऐसे नियमों में सीमित थी, जिनका प्रयोग सबके लिये समान रूप में किया जाता था। शिक्षार्थी राजपुत्र हो या भिक्षुक, उसे ब्रह्मचर्य अनुशासनों के साथ इन नियमों का पालन करना ही पड़ता था। डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी अपने ग्रन्थ, 'एंशियेंट इंडियन

एड्युकेशन' में वेदों के आधार पर नियमों की संख्या पांच मानते है। १. विद्यार्थी को गुरुघर रूपी शाला में ही रहना पड़ता था और उसका पालन-पोषण उसके गुरु पर ही आश्रित होता था। आधुनिक निवासयुत विद्यालयों (Residential Schools) से इन प्राचीन गुरुओं के आश्रमों में छात्रों को पनपने का अधिक अवकाश दिया जाता था। हर प्रकार का काम छात्र के परिश्रम पर निर्भर रहता था, जिससे उसमें श्रमजीवी बनने की भावना विकसित होती थी। २. विद्यार्थी को उसकी नैतिक योग्यता के अनुसार ही आश्रम में प्रविष्ट किया जाता था। जब तक छात्र आश्रम में रहता उसके नैतिक व्यवहार और आदर्श चरित्र का पूरा ध्यान रखा जाता। ३ साथ ही छात्र को व्रताचारी केशारीरिक और आध्यात्मिक नियन्त्रण में रहना अनिवार्य समझा जाता था। ४. शिक्षार्थी का मन, वचन और कर्म से गुरु को अपने मातापिता की तरह सम्मानित करना चौथा नियम था। ५. जो छात्र गुरु को सम्मान न देता, तथा उपर्युक्त अन्य कर्त्तव्यों और नियमों का पालन न करता, उसे आश्रम के अयोग्य समझ कर निकाल दिया जाता था। मेरे मत में तो विद्यार्थियों का तपस्वी रूप में रहना और बलपूर्वक ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करना भी भली विधियां थीं; जिनसे छात्रों का ध्यान बँटने नहीं पाता था और वे दत्तचित्त हो अपनी आयु का वह विशेष भाग ज्ञान प्राप्ति में होम कर देते। उनका सादा जीवन, प्रकृति प्रांगण में सहवास आदि उनके लिये परस्पर सहयोग तथा नैतिकता का मार्ग खोल देते तथा जंगल में रहने को कठिनाइयां उन्हें जीवन में संघर्ष करने का सामर्थ्य प्रदान करतीं। इस प्रकार वे तपे हुए सोने सरीखे (कुन्दन) आदर्श- जीवन का बीज अपने विद्यार्थी जीवन में ही बो देते। और आयु भर उसकी फलोत्पत्ति का रसास्वादन करते रहते। स्पष्ट है जंगल के वातावरण में अतीत के तथाकथित असभ्य युग में वह शिक्षण विधियां बहुत सुसंस्कृत रही होंगी, जो विद्यार्थी को केवल ज्ञान देना ही अपना लक्ष्य नहीं बनाए थीं। बल्कि उनके जीवन में संयम, नैतिकता, परिश्रम, सम्मान-भावना आदि की चेतनाओं के नैसर्गिक विकास का भी पूरा पूरा ध्यान रखती थीं। इतना ही नहीं, तत्कालीन इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक छात्र को उसके सामर्थ्यानुकूल और व्यक्तिगत शिक्षा दी जाती थी। जिससे प्रत्येक छात्र के साथ गुरु का निकट-सम्बन्ध रहता था और गुरु उसके प्रत्येक गुण और व्यवहार पर पैनी दृष्टि रख सकता था। शिक्षा की द्विपथ-विधि (Bipolar Process) के उदाहरण भी भारत की उस पुरानी शिक्षा-प्रणाली में मिलते हैं। वैदिक आदर्शवादी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य क्योंकि परम सत्य की खोज था और उसके लिये प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यष्टित्व जुदा रखता है; इसलिये गुरु और शिष्य दोनों एक दूसरे के सहयोग से सत्य की खोज में लीन रहते थे। उपनयन के समय 'अग्नि-प्रदक्षिणा' का जो नियम था, उसमें प्रत्यक्ष यह प्रतिज्ञा की जाती थी

कि गुरु और छात्र मिल कर ज्ञान की खानि को खोदेंगे और उसमें से प्राप्त मन्द-मणि के बराबर सांझीदार होंगे।

अब रहा प्रश्न आत्मज्ञान का। पाश्चात्य विचारधारा 'आत्मज्ञान' का सम्बन्ध अपने अन्तर की उन सभी सम्भाव्य शक्तियों की जानकारी से जोड़ती है जो प्रायः मानव की रुचि का नहीं, अरुचि का ही परिचय देती है। प्रस्तुत आधार निस्सन्देह मनुष्य को 'जिज्ञासु सबका, ज्ञाता किसी का भी नहीं' (Jack of all trades but master of none) बना देगा; परन्तु भारतीय विचारधारा आत्मज्ञान की पृष्ठभूमि ही भिन्न स्वीकार करती है। उसके लिये आत्माभिव्यक्ति द्वारा आत्मज्ञान का प्रश्न ही कोई नहीं उठता। आत्मज्ञान से पूर्व आध्यात्मवाद का आश्रय लेकर प्रस्तुत विचार धारा कुछ इतनी पुष्ट पृष्ठभूमि तैयार कर लेती है कि उसे किसी प्रकार के असफलता-मूलक चक्कर में पड़ने की नौबत ही नहीं आती। इसमें सन्देह नहीं कि आदर्शवादी-शिक्षा, पाश्चात्य हो या पूर्वीय, का उच्चतम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या आत्मज्ञान ही है। अन्तर केवल इतना है कि जहां पाश्चात्य-पद्धति का आधार मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है, वहां भारतीय पद्धतिकी पृष्ठभूमि सांस्कृतिक आध्यात्मिकता है। ऊपर संकेत दिया जा चुका है कि भारतीय शिक्षा का उच्चतम गुण, लक्ष्य ब्रह्मैक्य या ब्रह्म ज्ञान था। भारतीय मतानुसार मानवता परमात्मा का एक अंश है। उस आत्मा के गुण ब्रह्म के गुणों का ही स्वरूप है और आत्मा का पहचान लेना वास्तव में ब्रह्म का पहचान लेना है अतः भारतीय साक्षात्कार वास्तव में ब्रह्मैक्य का ही दूसरा नाम है। क्योंकि भारतीय जीवन का चरम-उद्देश्य मोक्ष स्वीकार किया जाता है और मोक्ष का स्वरूप आत्मा का परमात्मा में विलीन होना या व्यष्टि में समष्टि का अनास्तित्व प्राप्त करना है; इसलिए यहां आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्मैक्य या मोक्ष में किसी भी पक्ष में कम नहीं। भारतीय विचारधारा इसकी सिद्धि के लिए ज्योति मार्ग और श्रुति मार्ग नाम की दो विधियां भी प्रस्तुत करती है। ज्योति मार्ग में गुरु से पथ-प्रदर्शन प्राप्त किया जाता है और उसी के आश्रय अपनी वास्तविकता की पहचान की जाती है। श्रुति मार्ग में आन्तरिक ध्वनियोग तथा अन्य-पथ-प्रदर्शन का अवलम्ब लिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय पद्धति ने आत्म साक्षात्कार को एक साधारण लक्ष्य नहीं, बल्कि अपेक्षाकृत असाधारण और महत्त्वपूर्ण आदर्श बनाया है। पुनः भारतीय आधार केवल सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक भी है। स्पष्ट ही यह दृष्टि-कोण पाश्चात्य विचारों से प्राचीन है, अर्वाचीन नहीं। समय की करवटों और विज्ञान की भौतिकवादी चोटों में पिस जाने पर भी आज इसकी महत्ता स्वीकार की जा सकती है यदि क्रियात्मक नहीं तो ऐतिहासिक ही सही।

सार यह कि आदर्शवाद भारतीय हो या पाश्चात्य विश्व का आधार-तत्त्व या

उपादान कारण मन या आत्मा को मानता है। वास्तविक सत्य का स्वरूप मानसिक ही घोषित करता है। इसमें अनुभव, विचार, आदर्शों, मूल्यों और व्यक्तित्व पर, जिनका स्वरूप मानसिक है, बल दिया जाता है और इन्हें भौतिक वस्तुओं या बाह्य प्रकृति जगत् या निम्नतर प्राणी-सृष्टि की अपेक्षा विश्व के स्वरूप को अधिक निकट मानता है। अत: आदर्शवाद इस बात का बलपूर्वक खण्डन करता है कि मन सिर्फ मस्तिष्क और उसके संचलन का नाम है या कि चेतना उपजात (By-Product) मात्र है। यह निश्चयपूर्वक कहता है कि मन ही मूलत: तात्त्विक वस्तु है, जैसा कि रस्क ने ने भी बड़े अच्छे रूप में कहा है—"प्रकृतिवाद की तरह यह पूछने के बजाए कि 'शरीर में मन क्यों है?' यह पूछता है कि 'मन पर शरीर क्यों है?'[1]"

१. Ground work of Educational theory.—Rusk. Hindi Version by S. Chand & Co.

शिक्षा में व्यवहारवाद

व्यवहारवाद पाश्चात्य देशों की बढ़ रही पदार्थवादी-प्रवृत्ति का परिणाम कहा जा सकता है। विशेषकर अमेरिका में, जहाँ इसके बीज प्रस्फुटित, पत्रित, पुष्पित और फलित हुए है, लगभग १६वीं शताब्दी के आरम्भ में भौतिक उपकरणों के क्षेत्र में प्रगति करने की धारणा कुछ इतना घर कर चुकी थी कि 'कार्य में उत्साहपूर्वक जुटे रहो' का नारा अमेरिकी-मस्तिष्क का एकमात्र विचार बनकर रह गया था। विचार-धारा का आधार पदार्थ-लाभ (?) बनने के कारण विद्वानों, नेताओं और शास्त्रियों के सामने 'उपयोगिता कहाँ है ?' का प्रश्न बार-बार उठता था। उस युग में नैतिक, आदर्श या आध्यात्मिक उन्नति के विचार भी सारहीन हो चुके थे। भला जहाँ इंगलैंड में औद्योगिक-क्रान्ति ने अनेक मोटे पेटों को और मोटे बना दिया था; वहाँ छोटों को और छोटे न बनाने के आदर्श को अपनाने का स्थान ही कहाँ रह पाया होगा ? अमेरिका पहले ही एक क़दम आगे बढ़ गया था। उन देशों में उसके लिये क्रिया की कसौटी थी फल। फल संतोषजनक तो क्रिया उचित, अन्यथा अनुचित। इतनी फ़ुर्सत किसके पास थी कि फल-अफल से हटकर कर्म का औचित्य-विश्लेषण कर पाता। वे कोरे सिद्धान्तों को सम्मुख रखना एक प्रकार से कायरता समझने लगे थे। उनका लक्ष्य व्यावहारिकता थी, जिससे कुछ ठोस और भौतिक परिणाम उनके हाथ लगता। सात्विक-अनुभव या मानसिक-भावुकता से वे दूर भागते थे, उनका ब्रह्मास्त्र पंचेन्द्रियानुभव था—इसी के आश्रय वे किसी सिद्धान्त या आदर्श की सत्यता या असत्यता की परख करते थे। जन-जन के मन-मन में 'हाय उपयोगिता, हाय-प्रयोजन' की चिंगारी सुलग रही थी। चारों ओर स्वार्थ का वातावरण था—वह स्वार्थ व्यक्तिगत या समष्टिगत—सब अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलाप रहे थे। नींव में दब जाने वाले पत्थरों के प्रति कृतज्ञता जतलाने की अपेक्षा, वे ऊपरी भवन की भव्यता पर मोहित थे। उन्हें खुदी हुई कब्र अपेक्षित न थी, हर बार नई खोदने का प्रयास था, अर्थात् पूर्व-कालीन मस्तिष्कों की सूत्ररूपेण सूझें, जो ज्ञान का संकलित कोष बन चुकी थीं, उनके लिए रीती होकर रह गई और वे अपनी धुन में, सभ्य शब्दावली की गवेषणात्मक पद्धति पर क्रियाशील बनने में मग्न थे। 'गवेषणा' की इस तथाकथित पद्धति को शास्त्रीय नाम देने वाला पहला व्यक्ति था चार्ल्स पियर्स, जिसने स्वार्थाश्रित इस संकुचित वृत्ति को अतीव शिष्ट शब्दों में प्रैग्मैटिज़्म (व्यवहारवाद) कहकर पुकारा। विलियम जेम्स द्वारा

लोक-प्रियता प्राप्त करने पर, सौभाग्यवश इसे जॉन ड्यूई सरीखे महानुभाव के अथक प्रयत्नों का सहयोग प्राप्त हुआ। बस फिर क्या था, यह भौतिक-विचाराधारा शिक्षा-क्षेत्र में अवतरित हुई। हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि शिक्षा और जीवन के उद्देश्य अनुरूप होते है, अतः कहना न होगा कि ड्यूई के उपक्रमों से व्यवहारवाद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनाया जाने लगा। नैतिकता, धर्म या सौन्दर्य परक, सभी प्रकार की परिधि में वे लोग उपयोगिता ढूँढने, और उसी भीतपर अपनी आगामी-सन्तति का बौद्धिक-विकास निर्धारित करने लगे।

व्यवहारवादी दर्शन और उसका स्वरूप—

जन-साधारण की पहुँच में सत्य और असत्य, अच्छा और बुरा, ठीक और ग़लत, उचित और अनुचित, क्या और कैसे आदि समस्याओं का विवेचन ही दार्शनिकता है, तथा उनका सम्यक् निर्णय ही शिक्षा का पुनीत लक्ष्य। आदर्शवाद आज तक कुछेक बने-बनाए ऐसे साध्य या आदर्श जुटाता रहा है, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रभावशाली साधनों की खोज करनी पड़ती या उनके मूल्यांकन के मान-दण्ड प्रस्तुत करने पड़ते। परन्तु व्यवहारवादी-दर्शन किसी प्रकार के स्थिर आदर्श को स्वीकार नहीं करता। उसका प्रत्येक लक्ष्य देश और कालानुसार परिवर्तनशील है। साध्य जुटाने में किसी पूर्व-सिद्ध योजना से काम नही लिया जाता। प्रत्येक साध्य साधनों के सामर्थ्यानुसार रचियत रहता है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः ही अच्छे-बुरे या सत्य-असत्य का पूर्वायोजन स्वीकार नहीं किया जा सकता। आधुनिक पदार्थवाद तथा वैज्ञानिक-अनुसन्धान-प्रवृत्ति की छाप लिये रहने के कारण व्यवहारवाद के कुछ निर्दिष्ट-नियम-से बन गये हैं, जिनके अनुसार वह उपर्युक्त समस्याओं को जाँचता या परखता तथा किसी विशिष्ट निर्णय तक पहुँचने का सद्प्रयास करता है। यद्यपि ये नियम, बद्ध-नियम नहीं कहे जा सकते, तथापि इनका स्वरूप एक विशेष सांचे में ढला हुआ तो है ही। जे० एँस० रॉस० ने भी ऐसे कुछ प्रचलित और व्यावहारिक आधारों की ओर संकेत किया है।[1] उदाहरणतः व्यवहारवाद में उपयोगिता और तुष्टि (भौतिक या मानसिक) को ही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आदि का मापदण्ड माना है। जो वस्तु या क्रिया जितनी अधिक उपयोगी और लाभप्रद होगी, वह उतनी ही सत्य होगी, शिव और सुन्दर भी होगी। जिस कर्म से सन्तोषजनक फल प्राप्त हो, वही कर्म उचित होगा शेष अनुचित। प्रकट अनुभव के द्वारा की हुई परख ही ठीक या ग़लत का निर्णय करेगी। तभी तो व्यवहारवादी प्रायः डब्ल्यू० जेम्स के इस कथन को 'अमुक वस्तु, क्योंकि सत्य है, इसलिये उपयोगी

१. Groundwork of Educational Theory—Chapter The Philosophical Problem by J. S. Ross.

भी है, या क्योंकि वह उपयोगी है, अतः सत्य होगी ही' को सिद्धान्त की प्रामाणिकता मानते हैं।[1] उसकी मान्यता है कि दोनों का भाव एक ही है, और उसका संकेत ऐसी धारणा की ओर है, जिसकी पूर्ति भी हो सके और अनुभव भी। जिस क्रिया का कोई लाभ नहीं, जिस वस्तु का अनुभव नहीं किया जा सकता, जिससे कोई तुष्टिदायक परिणाम नहीं निकलता, वह सब व्यर्थ है, व्यवहारवादी की आँखों में निकृष्ट है, त्याज्य है। सत्य में सम्बद्धता और व्यावहारिकता के गुणों का होना भी वह प्रमाणित-परिणाम के बिना स्वीकार नहीं करता। यही सत्य की कसौटी है।[2] सच तो यह है कि व्यवहारवादी 'सत्य' का प्रयोग अन्य वादों की तरह वास्तविकता के लिए नहीं करते। प्राप्त किये गये ज्ञान का आधार भी इसे नहीं माना जाता। डा० दत्ता इसे जीवन-पथ-प्रदर्शक-ज्ञान की विशेषता कह कर पुकारते हैं। स्पष्ट है कि व्यवहारवादी सत्यता को किसी विचार का स्थिर गुण स्वीकार नहीं करते। जेम्स ने तो साफ लिखा है कि सत्यता किसी विचार का स्थायी गुण-धर्म नहीं। वह तो अकस्मात् विचार में निवसित होता है। सत्य बनता है या घटनाओं द्वारा बनाया जाता है। इसकी वास्तविकता एक घटना है, प्रक्रम है। इस प्रक्रम को अनुभव का आश्रय प्राप्त रहता है।[3] समय और अनुभव की दौड़ के साथ-साथ जिस तरह शक्ति, स्वास्थ्य और सम्पत्ति का अर्जन होता है, ठीक वैसे ही सत्य बनाया जाता है।[4] अतः सिद्ध है, कि व्यवहारवादी का सत्य परिस्थिति आश्रित है, स्वयं भू नहीं।

---

१. You can say either 'it is useful because it is true' or 'it is true because it is useful.' Both these perhaps mean the same thing, namely that here is an idea that gets fulfilled and can be verified.—'Pragmatism by William James'.

२. Satisfactory practical consequence may be regarded as a test of truth even by one who believes that correspondence or coherence is the essence of truth.—Contemporary Philosophy by Dr. D. M. Datta.

३. The truth of an idea is not a stagnant property inherent in it. Truth happens to an idea It becomes true, is made true by events. Its verity is in fact an event, a process; the process, namely of its verifying itself, its verifiction.—W. James in 'Pragmatism

४. Truth is made just as health, wealth and strength are made in the course of experience.—Ibid quoted by Dr. Datta.

यही कारण है कि प्रस्तुत सिद्धान्त परम-वास्तविकता के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता, उसका स्थान 'सम्भावना' (Probability) को दिया जाता है।

दूसरा नियम, जिसकी ओर रॉस ने संकेत किया है, सत्य को किसी न किसी निर्णय का परिणाम मानता है। निर्णय उस विचार को कहा जाता है, जो व्यवहार में लाने के योग्य समझाजाए, जिसके प्रति मनुष्य चेतन हो और जिसके सद्परिणाम की सम्भावना हो। विलियम जेम्स, जिसका नाम व्यवहारवाद के संचालकों और पोषकों में ऊँचा है, इस प्रकार के विचार या निर्णय के कई एक विशिष्ट-गुणों की ओर संकेत करता है।[1] स्वयं एक लब्ध-प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक होने के नाते वह 'निर्णय' को सार्वलौकिक या सार्व-जनीन नहीं मान सकता। वह समझता है कि कोई भी विचार व्यष्टिगत-मस्तिष्क की उपज होता है, दूसरों को वैसा ही विचार बनाने के लिये प्रभावित किया जा सकता है, और वह भी तब, जो वह विचार, अन्य के जीवन में व्यावहारिक सिद्ध हो सके। एक समय का व्यावहारिक विचार दूसरे समय असफल भी रह सकता है उसकी सीमाओं में न्यूनाधिकता भी आ सकती है, अतः जेम्स उसमें अस्थिरता के गुण का समावेश भी करता है। उसका अनुमान है कि विचार जीवन को नहीं, अपितु जीवन (परिस्थितियां) विचार को चलाती हैं (आदर्शवाद में उल्टा था)। हां, इतना जरूर है विचार विपरीत परिस्थितियों में भी विक्षिप्त नहीं होता, उसमें चेतन धारावाहिकता बनी रहती है। परिवर्तन आने पर भी उसका कारण पुष्ट होता है, और प्रवाह नितान्त। इस प्रकार के विचार-निर्णयों का परिणाम ही सत्य है, ऐसा व्यवहारवादी प्रणाली स्वीकार करती है। विचार को धारावाहिक बनाए रखने और उसके उचित परिणामों को प्राप्त करने के लिये अनुसन्धान, गवेषणा और अन्यान्य अनुभव की आवश्यकता पड़ती है, तभी तो व्यवहारवादी शिक्षा क्रियाशीलता, स्वानुभव और आयोजन-पद्धति पर ज़ोर देती है।

तीसरा नियम, प्रयोग में सफल सिद्ध होने वाले विचार को बनाए रखने का हमें नैतिक अधिकार है, रॉस की दृष्टि में कुछ खतरनाक है। परन्तु व्यवहारवादी-नीति इसे उचित ही कहेगी। परन्तु हम रॉस से सहमत हैं। उदाहरणतः कड़ी भूख लगने पर, जब मनुष्य के पास भोजन जुटाने का कोई अन्य साधन न हो, तो सम्भव है, एक बार चोरी करके पेट भर लेना भी व्यावहारिक सफलता हो, परन्तु चोरी के इस विचार को सफलता का द्योतक मान लेना कदापि नैतिक नहीं हो सकता।

सत्यासत्य की मुख्य समस्या के अतिरिक्त व्यवहारवाद ने ज्ञान के सिद्धांतों पर भी दृष्टिपात किया है। वैसे तो नैतिकता, धार्मिकता, मनोवृत्तियों की क्रियाशीलता,

---

१. Principles of Psychology—Vol.I.

तथ्य-सिद्धान्त आदि कई एक क्षेत्रों में व्यवहारवाद ने विचार प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उपर्युक्त दो क्षेत्र ही प्रधान कहे जा सकते हैं । नैतिकता हो या धार्मिकता, व्यवहारवादी, अनुभव-सिद्ध सफलता या व्यावहारिक-औचित्य ही सबकी कसौटी मानते हैं । ज्ञान का मूल भी उनके लिये अनुभव है । यदि शिक्षा ज्ञान-वर्द्धन का उपाय है, तो वह अवश्य ही अनुभव पर आश्रित होनी चाहिए, ऐसा अनुमान यहीं पर किया जा सकता है । व्यवहारवाद, क्योंकि आदर्शवादियों के बुद्धित्व के विरुद्ध विद्रोह रूप में चमका था, अतः इसके ज्ञान-सिद्धान्त का आरम्भ ही विरोधी-प्रज्ञावाद से होता है । (Anti-Intellectualism) डा० दत्ता अपने ग्रन्थ 'दि चीफ़ करन्ट्स ऑफ़ कंटैम्पोरेरी फ़िलॉसफ़ी' में विरोधी-प्रज्ञावाद के दो स्वरूप मानते हैं । एक शास्त्रीय (Epistemological) दूसरे पराभौतिक (Metaphysical) । व्यवहारवाद क्योंकि बुद्धि की सैद्धान्तिक-उपपत्तियों में कोई विश्वास नहीं रखता, बल्कि उसके स्थान में क्रियाशील-अनुभव को ऊँचा मानता है, वह शास्त्रीय-विरोधी-प्रज्ञावादी कहलाता है । बुद्धिवाद द्वारा व्यावहारिक-कर्त्तव्य की मौलिकता को पुष्ट करने की महत्त्वाकांक्षा तथा 'ज्ञान के लिये ज्ञान' के आदर्श की स्थापना के प्रयत्नों में व्यवहारवाद को दोष ही दोष दीख पड़ते हैं ।[१] परामौतिक क्षेत्र में व्यवहारवाद, न तो बुद्धि को मनस् का मूलभूत गुण ही स्वीकार करता है और न वास्तविकता को तर्क-रूप ही मानता है । उसके लिये मनस् और वास्तविकता दोनों अस्थिर और परिवर्तनशील हैं । मनस् के द्वारा मानव परिस्थितियों में व्यवस्था पैदा करता है और वास्तविकता अनुभव-सिद्ध परिणाम के साथ-साथ बदलती चली जाती है । अतः यहाँ भी व्यवहारवाद विरोधी-प्रज्ञावादी ही रहता है ।

उपर्युक्त विवेचन, थोड़े में व्यवहारवादी दर्शन का स्वरूप प्रस्तुत करता है, जिसकी नींव पर व्यवहारवादी-शिक्षा-प्रणाली का भव्य-भवन खड़ा करना हमारे इस लेख का लक्ष्य है । अनुभव-सिद्धि ही सच्चाई है, उपयोगिता ही तथ्य है, क्रियाशील-गवेषणा ही ज्ञान है और यह सब कुछ परिस्थिति अनुकूल परिवर्तनशील है—ये व्यवहारवाद के आधार-स्तम्भ हैं । परन्तु ध्यान रहे कि व्यवहारवाद दार्शनिक-समस्याओं के वास्तविक स्वरूप का कोई ठोस हल सुझाने में विशेष सफल नहीं रहा । वास्तव में अनिश्चित साध्यों को लेकर आगे बढ़ने से गन्तव्य स्थान के मार्ग में ही भटक जाना कोई बड़ी बात नहीं । पुनः भटका हुआ व्यक्ति जिस प्रकार रास्ता ढूँढने के

१. Pragmatism denounces the ambition of the intellect to outgrow its original practical role and its attempt to set up the independent ideal of knowledge for the sake of knowledge.—
Dr. Dutta's Contemporary Philosophy.

लिए चारों ओर दूर-दूर तक जा-जाकर लौट आता है, निजी अनुभवों से मार्ग का पता चलने का प्रयत्न करता है, परन्तु ठोकरें खाकर ही रह जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता; (क्योंकि उसे गन्तव्य-स्थान अर्थात् लक्ष्य का ही ज्ञान नहीं) वही दशा व्यवहारवाद की भी है। सम्भवतः यही कारण है कि श्री रॉस ने इसे दर्शन मानने की अपेक्षा दार्शनिक-समस्याओं को देखने का एक भिन्न दृष्टिकोण या विचार की स्पष्ट पद्धति स्वीकार किया है। जेम्स इसे आदर्शवाद और प्रकृतिवाद के दो छोरों को मिलाने वाली मध्यस्थ प्रवृत्ति मानता है। इसके अनुसार क्योंकि साध्योचित साधन नहीं ढूँढ़े जाते, बल्कि साधन देखकर मनुष्य स्वयं लक्ष्यों का आयोजन और मूल्यों का निर्माण करता है, तो यह प्लाटो के स्थित-आदर्शवाद की अपेक्षा गतिशील-आदर्शवाद के अधिक समीप आ जाता है।

व्यवहारवाद के दो सहायक-स्वरूप, प्रयोगवाद (Experimentalism) तथा उपकरणवाद (Instrumentalism), इसकी स्वीकार्य-पुष्टि प्रस्तुत करते हैं। शिक्षा-क्षेत्र में प्रकृतिवाद की तरह ही कुछ अच्छी विधियाँ प्रस्तुत करने के नाते, इसका अपना स्थान है। जहाँ प्रकृतिवाद, मानव-प्रकृति के सर्वांगीण-विश्लेषण करने में असफल रहता हुआ भी, मनोवैज्ञानिक शैक्षणिक-आधार की मांग कर चुका था, वहाँ इसने (व्यवहारवाद ने) शिक्षा को प्रयोग और उपयोगिता के व्यावहारिक क्षेत्र में रखकर समय का सम्मान प्राप्त किया है। 'छात्र को ऐसी स्थिति में पहुँचाना कि वह अपने आदर्श स्वयं खोज निकाले' का इसका लक्ष्य अन्ततोगत्वा आदर्शवाद का सहायक बन जाता है। इसीलिये तो रॉस सरीखे सुलझे हुए विचारक भी आदर्शवाद को ही शिक्षा का मूल-भूत दर्शन स्वीकार करते हैं, और प्रकृतिवाद तथा व्यवहारवाद को उसके सहायक।

व्यवहारवाद और शिक्षा—

व्यवहारवादी दृष्टिकोण लक्ष्यों का कोई पूर्वायोजन तो मानता ही नहीं, अतः शिक्षा द्वारा उनकी सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रस्तुत विचारधारा के अनुसार परिस्थितियां मूल्यों (Values) को बनाती हैं और मनुष्य साधनों की अनुकूलता से आदर्शों की ओर बढ़ता है, अतः शिक्षा का अनुमानित लक्ष्य यही स्वीकार किया जा सकता है कि शिक्षार्थी को शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक रूप में इतना सबल बना दिया जाये कि वह अपने प्रयोगों, उपयोगों, अनुसन्धानों या क्रियाशीलता द्वारा अपने लिये स्वयं आदर्शार्जित कर सके। उसमें प्रयोग और अनुसन्धान की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिये बचपन से ही शिक्षा का स्वरूप इन क्रियाओं पर आश्रित होना चाहिए—और वही व्यवहारवादी शिक्षा होगी। उसमें व्यवहारिकता के साथ-साथ सत्य-सृजन, उपयोगिता-

दर्शन, नूतनानुभव, तथा स्वप्रयोगों का स्थान मुख्य रहेगा। शिक्षार्थी अपने लिये स्वयं रास्ता बनाएगा, उसपर डगमगाते अशक्त, परन्तु विश्वस्त, क़दम बढ़ाएगा, और आवश्यकतानुसार अध्यापक को अवलम्ब बना, वह अपने आयोजनों में सफलता प्राप्त करेगा। आदर्शवाद द्वारा प्रस्तुत किये गये शैक्षनिक लक्ष्यों को ज्यों का त्यों तो व्यवहारवादी कभी मानेगा ही नहीं। रॉस के मतानुसार वह शिक्षा के नैतिक, सौन्दर्यपरक या धार्मिक पहलुओं को उपकरण बनाकर मूल्यों का सृजन करेगा। उसके समक्ष लक्ष्य अपने ही लिए नहीं अपनाए जाते, मानवीय-आवश्यकताएँ इनका आधार हैं। ज्ञान की अकारण खोज निरर्थक है। हमारी आवश्यकताएँ ही वे उपकरण हैं, जो हमें अपनी पूर्ति के लिये प्रयोग की ओर प्रेरित करती हैं। इन प्रयोगों के द्वारा जो सन्तोषजनक-परिणाम हस्तगत होते हैं, वे ही मूल्य या आदर्श कहलाते हैं। व्यवहारवादी, दर्शन से शिक्षा की उपज स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत शिक्षा को दर्शन की जन्मदातृ मानता है। जॉन ड्यूई ने प्रत्यक्ष लिखा है, 'शिक्षा-दर्शन का अभिप्राय मूलतः भिन्न उद्गम तथा उद्देश्य वाले बने बनाए विचारों को किसी व्यावहारिक-पद्धति पर बाहिरी तौर से लागू करना नहीं : यह तो समकालीन कठिन सामाजिक जीवन में आने वाली मानसिक और नैतिक आदतों के उचित-निर्माण की समस्याओं की प्रकट-व्यवस्था का नाम है। अतः दर्शन की गम्भीरतम तथा विचारयुक्त परिभाषा यही हो सकती है कि यह विस्तृत-स्थितियों में शिक्षा का ही सिद्धान्त है।'[१]

अब हम व्यवहारवादी-शिक्षा के भिन्न अङ्गों को एक-एक कर परखते हैं—

शिक्षार्थी और शिक्षा—

व्यवहारवाद अति-मानवीय आदर्शों के विरुद्ध प्रचण्ड विद्रोह है। वह नहीं मानता कि विश्व में मानवीय-आवश्यकताओं या उद्देश्यों की परिधि से बाहर भी कोई महान् आदर्श हो सकते हैं। उसका लक्ष्य सदा मनुष्य ही रहा है, मनुष्य की सर्वांगीण

---

१. 'Philosophy of Education' is not an external application of ready-made ideas to a system of practice having a radically different origin and purpose : it is only an explicit formulation of the problems of the formation of right mentel and moral habitudes in respect to the difficulties of contemporary social life. The most penetrating definition of philosophy which can be given is, then, that it is the theory of education in its most general phases.—Dewey' Democracy & Education. P. 386.

समस्याओं का हल, वह सामाजिक उपकरणों की सहायता और अपनी शक्ति के सामर्थ्यानुसार प्रस्तुत करता रहता है। इस प्रकार व्यवहारवाद को मानव-स्वार्थी विचार-शैली भी कहा जा सकता है। शिक्षा-क्षेत्र में बालक अर्थात् विद्यार्थी ही इस प्रणाली का केन्द्र बना रहता है। व्यवहारवाद स्वीकार करता है कि बालक परिस्थितियों या वातावरण के सीमित में मूल्यों का सृजन करने का सामर्थ्य रखता है। उसमें सम्भाव्य शक्ति पर्याप्त होती है, और ज्यों-ज्यों वह उसको नई खोलता जाता है, उसका मार्ग अधिक स्पष्ट और निश्चित सा बनता चलता है। बालक की भीतरी शक्तियाँ कुछ ऐसे नियम-नियमों में बद्ध रहती हैं कि वह अपने जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों का समन्वय करता हुआ एक विशिष्ट मानसिक पथ पर विकास पाता रहता है। अतः व्यवहारवाद केवल दो ही चीज़ों को महत्व करता है, बालक और उसका वातावरण। बालक का वातावरण प्राकृतिक, सामाजिक या भौतिक-पारिवारिक कई प्रकार का हो सकता है और इनका अन्योन्य प्रभाव बालक का संचित अनुभव बन जाता है। इस प्रकार बालक और उसकी मनोवृत्तियों या प्रकृति को शिक्षा-केन्द्र बनाने से व्यवहारवाद प्रकृतिवाद का अनुगामी कहला सकता है, परन्तु ऐसा नहीं है। जहाँ प्रकृतिवाद सब कुछ बालक की प्रकृति और उसके अनपढ़ वातावरण पर छोड़ देता है। वहाँ व्यवहारवाद अधिक सुलझे हुए तरीके से वातावरण में प्रयोग द्वारा वांछित परिवर्तन कर बालक की नैसर्गिक-वृत्तियों में परिवर्तन और विकास के साथ-साथ संशोधन और अधिकता लाने में भी सफल रहता है। प्रकृतिवश ही बालक नूतनता में रुचि रखता है। साधारणतः बालक द्वारा किसी खिलौने आदि को तोड़-फोड़ देना क्रोध की दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु इसमें व्यवहारवादी को बालक की प्रयोग वृत्ति के बीज दिखाई पड़ते हैं। समझाने पर भी जब वह आग में हाथ जलाना नहीं भूलता और स्वयं प्रयोगात्मक-अनुभव प्राप्त कर सदा के लिए एक बात सीख लेता है, बालक में प्रयोग-वृत्ति की उपस्थिति की पुष्टि करता है। अतः व्यवहारवाद विद्यार्थी को नई परिस्थितियों का सामना करने के लिए प्रयोगों द्वारा उद्देश्य-प्राप्ति की ओर प्रेरित करता है और विद्यार्थी स्वयं प्रायः अपनी अशुद्ध प्रयत्न की प्रवृत्तियों (Trial and Error) से शुद्ध उपाय खोज निकालता है। इतना ध्यान अवश्य रखा जाता है कि बालक को कोई सुनिश्चित आदर्श न दिए जाएँ। रॉस ने लिखा भी है, पर क्योंकि जीवन स्वयं परीक्षण-रूप है, इसलिए कोई ऐसा सुनिश्चित ध्येय नहीं हो सकता, जिसकी ओर बालक बढ़ता रहे। यदि शिक्षक बालक के लिए कोई खास ध्येय निश्चित करने की कोशिश करता है, या शिक्षक की तरफ़ से बालक के उद्देश्यों का फ़ैसला करने की कोशिश करता है, तो उसकी यह कोशिश सच्ची शिक्षा की शक्ति

को नष्ट कर देती है।[1]

व्यवहारवादी शिक्षा का लक्ष्य मानव की सर्वाङ्गीण शक्तियों का विकास है। इस विकास के भी दो भेद होते हैं—मनोवैज्ञानिक और सामाजिक। मनोवैज्ञानिक शिक्षा के स्वरूप का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, बालक सामाजिक-जीव है, उसे समाज में व्यवस्था बनानी होती है, अतः उसकी शिक्षा सामाजिक वातावरण में ही सम्पन्न होनी चाहिये। यहाँ व्यवहारवाद प्रकृतिवाद से बिल्कुल जुदा होकर चल दिया। जहाँ रूसो बालक को समाज के प्रभाव से दूर रख कर शिक्षित करने का पक्ष लेता था, वहाँ ड्यूई सामाजिक-जागृति में भाग लेने की योग्यता को ही सरल शिक्षा का लक्ष्य मानता है। इससे विद्यार्थी के मन-मस्तिष्क का संतुलन बना रहता है। सच तो यह है कि व्यवहारवाद शिक्षा को बालक की जन्मजात प्रवृत्तियों और समाज की आवश्यकताओं के बीच के अन्तर को पाटने का साधन-मात्र मानता है। हमारे हाँ जो विद्यालय बनाए जाते हैं, वे मुख्यतः बालक की उन प्रवृत्तियों के दूषित अङ्ग का नाश करने को ही अपना उद्देश्य बनाए रहते हैं। इन स्कूलों में बालक के नैतिक और मानसिक नियन्त्रण के नैसर्गिक-विकास का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। ड्यूई शिक्षा को साधन-विहीन प्राप्ति का कोई भण्डार नहीं मानता,[2] उसके मतानुसार जीवन के प्रत्येक कदम पर होने वाले अनुभव से कुछ सीखा जाता है और उससे बालक की आन्तरिक शक्तियों को पुष्टि और प्रगति मिलती है। इससे प्रायः बालक अपने भावी जीवन की प्रतिकूल या अनुकूल परिस्थितियों में अपने को सफलता-पूर्वक ढालने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

व्यवहारवाद शिक्षा को सामाजिक-संव्यवस्था के सामर्थ्य रूप में ही स्वीकार करता है। शिक्षा वही सफल कहला सकती है, जो बालक के निरंतर विकास का मार्ग खोल दे। शिक्षा का मुख्य स्वरूप, क्योंकि, व्यवहारवाद के अनुसार परिवर्तनशील है, अतः अपने को समाज की बदलती स्थिति के साथ बदलने की योग्यता प्राप्त करने का मुख्य साधन ही शिक्षा हो सकता है, और उसका लक्ष्य आत्म-ज्ञान। आदर्शवादी शिक्षा का लक्ष्य भी आत्म-ज्ञान ही था, परन्तु उसमें भौतिक-उपयोगिता की अपेक्षा आध्यात्मिकता का आश्रय अधिक लिया गया है।[3]

पाठ्य-क्रम

हम ऊपर लिख चुके हैं कि व्यवहारवादी शिक्षा का केन्द्र बालक होता है। क्यों-

---

१. 'शिक्षण-विज्ञान के मूल-आधार'—एस० चान्द एण्ड कं० द्वारा प्रकाशित।

२. Education is not a storage—Dewey.

३. अधिक विस्तार के लिए व्यक्तिगत शिक्षा-विचारक भाग दूसरे पढ़ें।

कि यह प्रणाली आदर्शों, लक्ष्यों या मूल्यों की कोई पूर्व-योजना स्वीकार नहीं करती, इसलिए प्रायः बालक की रुचियों, आन्तरिक-प्रवृत्तियों या आवश्यकताओं को उच्च स्थान देती है। ड्यूई के मत में तो इन रुचियों और आवश्यकताओं को पूर्ण करने की योग्यता प्राप्त करना ही शिक्षा है, और इसकी पृष्ठभूमि का निर्माण अनुभव पर ही सम्भव है—जैसा कि हक्सले के अनुसार मनुष्य रूप में ही ज्ञान और अनुभव का समन्वय सफलता का द्योतक है। अतः व्यवहारवादी पाठ्यक्रम की मूल-भित्ति बालक की गतियों में समेकन स्थापित करने की विशेषता से हीन कभी नहीं हो सकती। श्री जे० एस० रॉस ने स्पष्ट लिखा है कि व्यवहारवाद शिक्षक से यह स्मरण रखने को कहता है कि उसके सामने एक मन है, और यह बताता है कि यह मन ज्ञान और कौशल की जो एकता हासिल करता है, वह तभी निश्चित रूप से प्राप्त होती है, जो वह ज्ञान और कौशल किसी प्रयोजन-कार्य से, किसी वांछित लक्ष्य की सिद्धि के लिये, प्रयत्न करने से पैदा हो। व्यवहारवादी विधियाँ बालक को स्पष्ट अनुभव करा देती हैं कि उसकी शिक्षा के विविध पहलू परस्पराश्रित हैं।[1] शिक्षा-क्षेत्र में यह भूल जाना कि विषय साधन हैं, साध्य नहीं, व्यवहारवाद का गला घोंटने के बराबर होगा। अतः प्रस्तुत प्रणाली के मतानुसार आरम्भिक और माध्यमिक शालाओं का अध्यापन विषयगत न होना चाहिए। वास्तव में ये विषयव्यष्टिगत पाण्डित्य-प्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि मानव की वे निधियाँ हैं, जो उसने अपने वातावरण को समझने के लिये अनुभवों के सार रूप में प्रस्तुत की हैं। स्पेंस-रिपोर्ट का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए श्री रॉस ने ऐसा लिखा है। उसी रिपोर्ट में ऐसे संकेत भी उपलब्ध हैं, जो विषयों के भिन्न समूहीकरण की माँग करते हैं। व्यवहारवादीविधि, प्रॉजेक्ट-मैथेड की पृष्ठभूमि, समूहीकरण की यही विचारधारा कही जा सकती है।

अब प्रश्न उठता है कि विषयों का समीकरण किया क्योंकर जाए? हमारे पास कोई ऐसा बद्ध-नियम तो है नहीं, जिसको कसौटी बनाकर सब पाठ्य-विषयों का वर्गीकरण कर लिया जाए और बाद में एक-एक वर्ग के समेकित विषयों को एक विशिष्ट आयोजन में पढ़ाया या सिखाया जाए। यहाँ पाठ्य-क्रम में अध्यापक का महत्त्व छिपा दृष्टिगत होता है। अध्यापक स्वयं वह कसौटी बन सकता है, जो समय, स्थान, वातावरण और सुविधाओं के अनुसार एक विषय का ज्ञान कराते हुए अन्य अनेक सहयोगी विषयों की शिक्षा भी विद्यार्थियों को अनुभव करवाता जाए। उदाहरण के लिए 'यूसुफ़' की कहानी पढ़ाने के लिए भाषा-शिक्षण, इतिहास; भूगोल, नैतिकता, वाक्य-सृजन और सद्वृत्तियों, कुछ सीमा तक गणित आदि विषयों का

---

१. शिक्षण-सिद्धान्त के मूल-आधार—एस० चान्द एण्ड कं० द्वारा प्रकाशित।

समेकन किया जा सकता है, और एक ही पाठ में सबके सब विषय क्रम से पिरोए और संजोये जा सकते हैं। पुनः अभिनय द्वारा साक्षात् अनुभव भी प्रस्तुत किया जाए तो कोई हानि नहीं। इसी प्रकार भारतीय वातावरण में प्रताप और शिवाजी की कहानियाँ बताते समय उनकी स्थिति में इतिहास और भूगोल, उनके युद्धों के वर्णन में प्रोत्साहन और वीरता, उनके चारित्रिक कर्मों में नैतिकता, उनके शासन में राजनैतिक-व्यवस्था, उनकी अडिग परिस्थितियों में स्वाभिमान, उनके रूपकों में संवाद और वाक्य तथा भाषा, उन पर छोटी-छोटी रचनाओं की प्रेरणा से साहित्य और उनके बताए मार्ग के गुणों से वीर-पूजा आदि की शिक्षा बालकों को दी जा सकती है। कहने का अभिप्राय यह कि व्यवहारवादी पाठ्य-क्रम किसी भी विशेष विषय की अवहेलना नहीं करता, परन्तु उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व उसे स्वीकार्य नहीं। समेकन (Integration) की यह प्रवृत्ति व्यवहारवाद की निजी विशेषता हो, ऐसी बात नहीं। बहुत से विचारकों ने इस बात पर पहले भी जोर दिया है, लेकिन इस विचारधारा को क्रियाशील बनाने या कार्यान्वित करने का श्रेय व्यवहारवाद को ही दिया जा सकता है।

ध्यान रहे कि व्यवहारवाद शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक या आध्यात्मिक, सब प्रकार की परिपक्वता को शिक्षा का साध्य स्वीकार करता है, परन्तु किसी की भी अकारण या निरर्थक-पुष्टि उसके मत से बाहर की वस्तु है। ईश्वर को भी केवल ईश्वर-प्राप्ति के लिए ही पाने की इच्छा रखना और प्रयत्न करना, उनके मस्तुत व्यर्थ में शक्ति का क्षय करना है। व्यवहारवादी पाठ्य-विषय भी इस नियम को समक्ष रखते हैं। उपयोग और सत्यता का जो मेल व्यवहारवादी-दर्शन में बिठाया गया था, वही यहाँ क्रियान्वित है। जिस विषय की जीवन में कोई उपयोगिता ही नहीं, उस पर शक्ति क्यों व्यय की जाए। यदि ईश्वर का नाम संतुष्टि और संबल पाने के लिए सत्युत वातावरण प्रस्तुत कर सकता है, तो उसकी अपनी उपयोगिता है, अतः समय पर उसके अनुभव भी हासिल करने ही होंगे; अन्यथा वह व्यर्थ का निरर्थक नाम है। इसी प्रकार व्यवहारवादी नैतिक-शिक्षा यदि झूठ बोलने में कोई विशेष उपयोगिता देखती है, तो उसे अपनाने में कोई दोष नहीं गिनती। आदर्शवादियों या आध्यात्मवादियों की तरह नैतिकता उनके लिये कोई निरपेक्ष-नियम (Categorical Imperative) नहीं, वह देश और काल के अनुसार बदल सकती है। अतः स्पष्ट है कि व्यवहारवादी पाठ्य-क्रम किसी विशेष परिधि में बंधा हुआ नहीं; उसका विस्तार हीन से हीन क्रिया से लेकर उच्च से उच्च कौशल या कला तक और वर्णमाला के 'क', 'ख' से लेकर महान् से महान्तम विज्ञान और दर्शन तक, फैला हुआ है। बस उसकी प्राप्ति समेकित-अनुभव और क्रिया में है, पुस्तक-पाठ

और रटने में नहीं। यहाँ एक बात और याद रहे कि शिक्षा के पाठ्य-क्रम में आने वाली वे सब बातें जिसे अध्यापक छात्र के जीवन में उपयोगी समझता हो, उन्हें भी विद्यार्थी पर लादा नहीं जाएगा। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि ऐसे साधन अपनाए, जिससे विद्यार्थियों में उस विषय को सीखने की उत्कट इच्छा जगे और उसके प्रति रुचि उत्पन्न हो। रुचि अपनाए बिना दी गई कोई भी शिक्षा, चाहे वह कितनी भी उपयोगी क्यों न हो, निरर्थक ही मानी जाएगी।

व्यवहारवादी पाठ्य-क्रम के प्रस्तुत स्वरूप पर, श्री रॉस का अनुकरण करते हुए, कुछेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती है। आज की हमारी परीक्षा-पद्धति, जिसे हम ने अनेक बार बदलने का प्रयत्न करते हुए भी कभी सफलता प्राप्त नहीं की, समेकन के उपरि वर्णित विचार के मार्ग की, सबसे बड़ी बाधा कही जाएगी। आधुनिक-शिक्षा में योग्यता का माप-दण्ड विषयगत या विषयांशगत परीक्षण ही स्वीकार किया जा रहा है। उसमें व्यवहारवाद के कण चाहे बिखरे हों, पर व्यवहारवाद उससे बहुत दूर की वस्तु है। व्यवहारवाद के अनेक प्रसिद्ध आचार्यों तथा अन्य शिक्षा-विचारकों ने इसकी क्रियाशीलता के लाभों का अनुभव करते हुए अपनी अध्यापन-पद्धतियों में परिवर्तन करना चाहा, परन्तु परीक्षण, या प्रगतिदण्ड का प्रश्न सामने आते ही उनके सब हथियार ढीले पड़ गये। श्री रॉस ने रेमांट का उदाहरण देते हुए लिखा है कि यदि यही स्थिति रही और परीक्षा पद्धति को बदलने का कोई सुनिश्चित ढंग नहीं निकाला जाने वाला, तो भला इसी में है कि शिक्षा-सम्बन्धी विचार करना ही बन्द कर दिया जाए। परन्तु उनके अपने विचार में परीक्षा के आधुनिक रूप को धीरे-धीरे बदलने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। अच्छा हो यदि परीक्षा की अपेक्षा अध्यापक की पैनी दृष्टि और विद्यार्थी की दैनिक क्रियाशीलता का आलेखन, प्रगति का मापदण्ड बनाया जाए। वह अधिक सहायक और सफल प्रवृत्ति कही जाएगी। दूसरी आपत्ति विशेषज्ञता को हतोत्साहित करने के विरुद्ध है। निम्न-श्रेणियों में समेकन-पद्धति द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा सुविधापूर्वक दी जा सकती है, परन्तु माध्यमिक या उच्च-श्रेणियों में क्या होगा? आज विश्व के महानतम शिक्षा-शास्त्री विशेष अध्ययन की आवश्यकता पर मतैक्य प्रकट कर चुके हैं। उनका ख्याल है कि बिना किसी विषय पर एकाधिकार प्राप्त किये, जो कि विशेष-अध्ययन का ही परिणाम होता है, न घर का रहेगा, न घाट का। उसमें न कौशल जन्मेगा, न अनुभव की सम्बद्धता उपजेगी और ना ही उसकी किसी विषय-विशेष सम्बन्धी रुचि को त्राण मिल सकेगा। ऐसे में समेकन का प्रचार करने वाली व्यवहारवादी प्रणाली उच्च-शिक्षा-क्षेत्र में बिलकुल असफल हो जाएगी। उसकी डगमगाती हुई स्थिति सम्भालने का केवल एक ही रास्ता है, वह यह

कि विशेष अध्ययन की ओर में व्यावहारिकता का समावेश करवाया जाए। निम्न-श्रेणियों में समेकन का रूप अपनाते हुए भी अध्यापक को इतना सचेत रहना चाहिए कि वह विद्यार्थी की विशिष्ट-रुचियों और मनोवृत्तियों का ध्यान रखे, और श्रेणी की प्रगति के साथ-साथ उसकी निजी रुचियों की तुष्टि हेतु सामग्री जुटाता रहे। माध्यमिक शिक्षा में यदि यह क्रम उचित ढंग से अपनाया जाए, तो निश्चय ही उच्च-शिक्षा की सीमा में प्रविष्ट होता हुआ विद्यार्थी अपने लिए किसी विशिष्ट-क्षेत्र के निर्वाचन का सामर्थ्य प्राप्त कर चुका होगा। ये ही पौद हमारे विश्व-विद्यालयों में विशेषज्ञों की आवश्यकता पूरी करेंगी। इसी में उपयोगिता है, और उपयोगी ही सत्य है। इस प्रकार व्यवहारवादी पाठ्य-क्रम का थोड़ा-थोड़ा रूप परिवर्तन कर, हम पुष्ट शिक्षण-पद्धति की नींव डाल सकते हैं, जो पूर्व-रचित के सीमा-भेदों से परे बालक के सर्वाङ्गीण मनोवैज्ञानिक-विकास को अपना लक्ष्य बनाए रहेगी।

शिक्षण-विधियाँ—

व्यवहारवादी शिक्षा-प्रणाली, क्योंकि पाठ्य-विषयों के समेकन पर विशेष जोर दे चुकी है और साथ ही प्रयोग, क्रियाशीलता, व्यावहारिकता, अनुभव आदि को उपयोगिता-निर्माण के आधार माना गया है; स्वभावतः ही उसकी विधियाँ ऐसी होनी चाहिएं, जिनमें इन सब बातों का हस्तक्षेप तो रहे ही, बल्कि बालक की रुचियों, मनोवृत्तियों, संवेदनाओं, निसर्ग-नियमों आदि का भी ध्यान रखा जाए। व्यावहारवादी शिक्षण-विधियों में व्यावहारिकता और क्रियाशीलता लाने के लिए प्रयोग-विधि का व्यावहारिक रूप अपनाया गया है। पीछे, दार्शनिक स्वरूप में हम देख चुके हैं कि किसी भी क्रिया या वस्तु की सत्यता जाँचने के लिए उसे प्रयोग की कसौटी पर कसना अनिवार्य है। यहीं से वस्तु-विशेष के गुण या उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त होता है, और मनुष्य उस कार्य को, उसके परिणाम के अनुसार, अच्छे या बुरे की संज्ञा देने का अधिकार प्राप्त करता है। प्रकृतिवाद ने भी इस विधि को अपनाया था, परन्तु उसका रूप इससे भिन्न था। वहाँ बालक को प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में स्वयं प्रयोग द्वारा अपना मार्ग खोजना था, परन्तु यहाँ व्यवहारवाद ही आदर्श वातावरण निर्माण का आयोजन भी साथ में प्रस्तुत करता है। दिये हुए विशिष्ट-वातावरण में विद्यार्थी को अपनी रुचि के अनुसार प्रयोग करने होते हैं और परिणाम तक पहुँचना होता है, जो प्रायः उसके आगे बढ़ने में एक सीढ़ी का काम देता रहता है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान की सब शिक्षण-विधियाँ प्रयोग-सिद्धान्त पर आधारित हैं। सम्बद्ध वातावरण में किसी वस्तु की पुनरावृत्ति के कारण उसका

अंकन अपने स्मृति-पट पर प्राप्त कर लेना (Conditional Response) और सदा के लिए उस अनुभव को अपने ज्ञान का एक अंश बना रखना, प्रयोग-विधि का ही एक भाग है। थॉर्नडाइक की अशुद्ध-प्रयत्नों (Trial and Error) की विधि भी प्रयोग-सिद्धान्त पर ही आश्रित है। बालक को उसकी रुचि के अनुसार कोई कार्य दे दिया जाए, और वह उसके शुद्ध परिणाम के लिए बार-बार अशुद्ध-प्रयत्न करता रहे, तो अन्ततः वह उसके ठीक लक्ष्य को पा ही लेगा। इसमें दो और लाभ मिलेंगे—बालक के द्वारा प्रयत्न करते रहने के कारण शिक्षा-क्षेत्र में क्रियाशीलता बनी रहेगी और उसके परिणाम बालक के स्वानुभव पर आधारित होने के कारण स्थायी-प्रभाव बनाए रहेंगे। इस पद्धति पर बौद्धिक-विकास देने के लिए अनेक प्रकार के भूल-भुलैयां और गोरख-धन्धों का इस्तेमाल किया जा सकता है। (Maze-Learhing)। प्रयोग-विधि केवल निम्न-श्रेणियों के लिए ही उपयोगी नहीं, उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में इसका प्रयोग अधिक सफलता से किया जा सकता है। वनस्पति शास्त्र के विद्यार्थियों को यदि भिन्न जातियों के फूलों की प्यौंद के प्रयोग करने की स्वतन्त्रता दी जाए, तो उनमें विषय की रुचि भी बढ़ेगी, और वे नये नये परिणाम भी खोज निकालेंगे। हो सकता है, किसी नई प्रकार का पुष्प प्रकाश में आए। यही तरीका फलदार पेड़ों के लिए भी अपनाया जा सकता है। जीव-विद्या और प्राणी-शास्त्र के छात्र छोटे-छोटे पशु-पक्षियों पर नये नये प्रयोगों का परीक्षण कर सकते हैं। इसी प्रकार साहित्य के विद्यार्थी नूतन प्रतीकों, उपमाओं और छन्दों के प्रयोगों का अधिकार रखते हैं। प्रयोग-विधि का सबसे बड़ा लाभ प्रकृतिवादियों के 'करो और सीखो' के लक्ष्य का सफल प्रतिपादन है। उस पर तुर्रा यह कि प्रत्येक छात्र अपनी इच्छाओं की तुष्टि भी आसानी से प्राप्त कर सकता है। इसमें अध्यापक और छात्र दोनों सयत्न रहते हैं। किसी को तन्द्रिल-जड़ता का अवकाश ही नहीं मिलता। साधारण अवस्था की शिक्षण-विधि की भाँति 'अध्यापक का बोलते जाना और छात्र का ऊंघते जाने' की सम्भावना इसमें नहीं रहती। दोनों क्रियाशील हैं—एक प्रयोग करने में और दूसरा प्रयोग का ठीक ढंग बताने में।

दूसरी विधि, जिसमें क्रियाशीलता और प्रयोग दोनों का सफल समन्वय प्रस्तुत किया गया है, परियोजना या आयोजना-पद्धति है। इसकी पृष्ठभूमि 'पाठ्यक्रम में समेकन की भावना' ही है। अध्यापक को इसमें पथ-प्रदर्शक का कार्य तो करना ही पड़ता है, साथ में परियोजना के लिये वातावरण-निर्माण भी उसका लक्ष्य रहता है। उसे ऐसी स्थिति पैदा करनी होती है, जो विद्यार्थियों में परियोजना के प्रति रुचि उपजाए तथा एक ही कार्य के करने में अनेक विषयों का समन्वय प्रस्तुत कर सके। परियोजनाएं विद्यार्थियों के स्तरानुसार निर्मित होनी चहियें, परन्तु पूर्व निश्चित नहीं। पूर्वायोजित

होने से छात्रगण उनमें कोई विशेष रुचि न ले सकेंगे। ये तो स्तरानुसार मस्तिष्क की आयु-उपलब्धि होनी चाहियें। उदाहरण के लिये चौथी-पाँचवी श्रेणी के लिये फूल-पौदे लगाने की परियोजना बनाई जा सकती है। बच्चों को कहीं फूलदार उद्यान की सैर कराना और उनके अन्तर में फूलों के सौन्दर्य के प्रति एक मोह उत्पन्न करना, इस परियोजना की पहली सीढ़ी होगी। बच्चे फूलों को चाहेंगे और यह बताए जाने पर कि वैसे फूल उनके विद्यालय के आँगन में भी उग सकते हैं, वे अवश्य ही उनके जुटाने में रुचि लेने लगेंगे। अब उन्हें इस प्रसंग में समेकन-नियमानुसार अनेक विषय पढ़ाए, सिखाए और मनोनीत कराए जा सकते हैं। भिन्न प्रकार के फूलों के लिये योग्य वातावरण, जलवायु तथा मौसम आदि के विषय में बताते हुए वनस्पति-शास्त्र और प्राकृतिक-भूगोल की शिक्षा दी जा सकती है। बीज की अच्छाई-बुराई की पहचान के साथ साथ उसके भाव, नाप, तोल आदि का ज्ञान देते हुए गणित पढ़ाया जा सकता है। भूमि पर क्यारियाँ बनाने में ज्यामिति की सहायता ली जा सकती है। भिन्न प्रकार के फूलों के सौन्दर्य पर अपने लिखित और मौखिक भाव प्रकट करने की प्रेरणा देते हुए भाषा और साहित्य की शिक्षा सम्भव हो सकती है। सम्भव हो तो फूलों के सम्बन्ध में इतिहास की प्रसिद्ध घटनाएं दोहराई जा सकती हैं, यथा नूरजहाँ का पुष्प-प्रेम, गुलाब के युद्ध आदि। इसी प्रकार ऊँचे स्तर के विद्यार्थियों के लिये इस कुसुमोद्यान की सिंचाई परियोजना प्रस्तुत की जा सकती है। हाथ से चलाने वाले पम्प या छोटे कुएं की आवश्यकता का अनुभव विद्यार्थियों को दिया जा सकता है। तदुपरान्त भूमि की कठोरता या कोमलता, खुदाई, स्टैंड का संतुलन, पाइप की लम्बाई-चौड़ाई, परिधि, पुलियाँ, फिल्टर, दस्ते के ऊँचे-नीचे होने से जल-स्राव आदि अनेक क्रियाओं से अनेक विषयों का समेकन प्रस्तुत किया जा सकता है। प्राकृतिक-भूगोल, भौतिक-विज्ञान, गणित, ज्यामिति, नीचर-स्टिडि, लोहे के उद्योग-धन्धों आदि की शिक्षा दी जा सकेगी। हैंड-पम्प के आविष्कारक के नाम से लेकर उसकी आज तक की प्रगति का स्वरूप इतिहास-शिक्षा का पोषक हो सकेगा। इसी प्रकार स्तरानुसार अनेक परियोजनाएँ बनाई जा सकती हैं और उनसे विद्यार्थियों को व्यावहारिक जीवन-का-सा ही अनुभव देते हुए कौशल-पूर्वक बौद्धिक-विकास की ओर बढ़ाया जा सकता है। हाँ, प्रत्येक परियोजना को क्रियान्वित करने में दो बातों का ध्यान रखना बड़ा जरूरी है—एक, योजना की समाप्ति में शीघ्रता की उपेक्षा, दूसरी, जितना भी सम्भव हो सके, योजना सामाजिक-जीवन के अधिक निकट हो। ये दोनों बातें बालक में काम करने की लगन और रुचि का संवर्द्धन करेंगी, जिसका परिणाम होगा, एक सजग परिश्रमशील नागरिक। परियोजना-विधि के पक्ष में निम्न तर्क भी हैं। इससे छात्रों में सहयोग की भावना जगती है, आत्म-विश्वास पैदा होता है और काम करने की लगन उपजती है।

तीनों गुण सुनागरिकता के महत्त्वपूर्ण चिन्ह हैं। बालक, जो भविष्य में बाहरी-समाज की इकाई बनने वाला होता है, सहयोग-वृत्ति से समाजिकता की प्राप्ति करता है। अपने सहपाठियों के सहकार में कार्य करने का जो आनन्द उसे मिलता रहा है, वह प्रौढ़-समाज में भी सहयोग द्वारा उपलब्ध हो सकता है। क्योंकि परियोजना का सम्पूर्ण काम उसके नन्हें हाथों से निकलता है और उसका परिणाम प्रत्यक्ष में उसे बड़ा दीखता है, तो निःसर्गतः उसके अन्तर में आत्म-विश्वास जगता है और वह नन्हा होते हुए भी अपने को बड़ा काम करने के योग्य समझने लगता है। अन्ततः सहयोग और आत्म-विश्वास मिलकर बालक में कर्म-संलग्नता की मात्रा को बढा देते हैं। चंचल-प्रकृति बालक चौकड़ी भूलकर अपने यथाकथित महान्-परिणामों की प्राप्ति की धुन में कार्य करने में जुट जाता है और आरम्भ से ही परिश्रमी बन जाता है—यही जीवन की उपयोगिता है।

उपरिवर्णित व्यवहारवादी शिक्षण-विधियों के पर्यवेक्षण से कोई भी समझदार व्यक्ति यह अनुमान लगाएगा कि मनोवैज्ञानिक आश्रय की उपस्थिति में भी ये विधियाँ उन त्रुटियों को पूरा नहीं कर पातीं, जिनका संकेत हम 'पाठ्य-क्रम' में दे चुके हैं। इन विधियों द्वारा दी गई शिक्षा का परीक्षण व्यष्टिगत-विषयानुसार नहीं किया जा सकता और न ही इनमें किसी विषय के विशेष अध्ययन की ही सम्भावना हो सकती है। अतः जहाँ तक प्रारम्भिक श्रेणियों का प्रश्न है, ये विधियाँ पर्याप्त सफल हो सकती हैं, परन्तु उच्च श्रेणियों के लिये इनमें कोई सत्व नहीं। प्रयोग-पद्धति का स्तर बढ़ाते हुए उसे विषय-गत रूप दिया जा सकता है, परन्तु परियोजना-विधि यहाँ चारों खाने चित्त है। ज्ञान की असम्बद्धता (विक्षिप्तता) उसका अभिशाप है और आगा दौड़, पीछा चौड़ का रूप उसकी मौत।

शिक्षा और समाज—

व्यवहारवादी शिक्षा, जो पाठ्य-क्रम में समेकन को लक्ष्य बनाए है, विद्यार्थी के जीवन में समेकन की आवश्यकता को भुला नहीं देती। उसके लिये स्कूल सामुदायिक-व्यवहार का क्षेत्र है, जो समाज का छोटा रूप होता हुआ विद्यार्थी पर सामाजिक-क्रियाशीलता का प्रतिबिम्ब डालता रहता है; और छात्र का समाजीकरण करता है। व्यवहारवाद विद्यार्थीयों के व्यक्तिगत शिक्षण को श्रेयस् नहीं मानता। उसकी परियोजना-पद्धति इस बात का सजीवप्रमाण है। बालक को भावी-नागरिक बनना है समाज में विचरण करना है और दूसरों के बीच अपने लिये स्थान बनाना है। इसका सम्भावना सहयोग में ही है। व्यवहारवाद की शिक्षण-पद्धतियाँ सहयोग को तो लक्ष्य करती हैं, साथ ही स्वानुभव की ओर संकेत करती हुई, विद्यार्थी को समाज में अपने

लिये स्थान बनाने का सामर्थ्य भी प्रदान करती है। समाज में अपना अस्तित्व बनाए रखने के हेतु मानव का क्रियाशील होना अनिवार्य है। यही क्रियाशील और व्यावहारिक व्यक्ति ही सफल-सामाजिक की संज्ञा से विभूषित किया जाता है—और व्यवहारवादी-शिक्षा का स्वरूप व्यावहारिकता और क्रियाशीलता पर बल देना ही है। ऐसी स्थिति में इस आधार पर आलोचना-प्रत्यालोचना करना कि व्यवहारवादी-शिक्षा समाज का कहाँ तक अनुकरण करती है, व्यर्थ होगा। वास्तव में प्रस्तुत शिक्षा-प्रणाली, क्योंकि, उपयोगिता के सिद्धान्त पर आश्रित है, समाज की परिधि से बाहर जाने का अनुपयुक्त उद्देश्य बना ही नहीं सकती। व्यष्टि और समष्टि का समन्वय अर्थात् व्यष्टि में समष्टि के गुण-ग्रहण करने का सामर्थ्य पैदा करना ही व्यवहारवाद का मन्तव्य स्थान है; इसीलिये उसके पाठ्य-क्रम में समेकन, उसकी विधियों में सामूहिक-सहयोग तथा उसके उद्देश्यों में जीवन के उपयोगी तत्वों की पृष्ठभूमि पूर्वायोजित मिलती है।

पुनः शिक्षा का लक्ष्य, शिक्षार्थी को जीवन-क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए परिपक्वता प्रदान करना है। प्रयोग और अनुभव उस परिपक्वता के आधार हैं—इन्हीं के आश्रय भावी-नागरिक समाज में नैतिक-शिष्टता बनाए रखने में सफल होता है। 'विद्यालयों का निर्माण ही क्योंकि छात्रों के हित के लिए होता है, इसलिए हम यह मान सकते हैं कि स्कूल की गति-विधियों से मिलने वाली चरित्र की शिक्षा, उस शिक्षा से भी अच्छी होगी, जो स्कूल के बाहर वास्तविक कार्यों में भाग लेने से मिलेगी।'[1] इतना ही नहीं, व्यवहारवादी-शिक्षा, छात्र के समाज-प्रवेश के लिए उसे संघर्ष-शक्ति देती है, साधना-वृत्ति और संयम देती है तथा विश्वास-युक्त स्वनिर्णय की क्षमता प्रदान करती है। शिक्षार्थी की मानसिक-वृत्तियों का शोधन भी शिक्षा द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जो उसके जीवन में संतुलन बनाए रखने का एक-मात्र आधार कहा जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा द्वारा सर्वाङ्गीण-गुणीभूत होकर शिक्षार्थी समाज की एक अतीव महत्त्वपूर्ण इकाई बनता है और उसकी प्रगति के प्रासाद-निर्मिति में सहायक होता है।

व्यवहारवादी-शिक्षा और जीवनोद्देश्य—

सिद्ध किया जा चुका है कि वास्तव में शिक्षा के लक्ष्य ही जीवन के लक्ष्य होते हैं। यह भी अकाट्य तथ्य है कि जीवन के लक्ष्यों का निर्णय दार्शनिक-सिद्धान्त का क्षेत्र है, शिक्षा का नहीं। परन्तु व्यवहारवादी विचारक ड्यूई शिक्षा को दर्शन का व्यावहारिक रूप नहीं, बल्कि दर्शन को शिक्षा का सिद्धान्त मानकर शिक्षा को प्रधानता

---

१ रॉस—शिक्षण सिद्धान्त के मूलाधार।

देना चाहता है। उसके दृष्टिकोण से देखा जाए तो व्यवहारवादी-दर्शन का जो स्वरूप हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, वह किन्हीं पूर्वायोजित लक्ष्यों की ओर संकेत नहीं करता। उसके अनुसार क्रियाशील रहने पर स्वयमेव ही लक्ष्य बनते जाते हैं और उनका मूल्यांकन भी तत्कालीन परिस्थितियों के संतुलन में होता चलता है। वे ही शिक्षा के उद्देश्य होते हैं, वे ही जीवन के प्राप्य-लक्ष्य।

व्यवहारवादी-दर्शन अनुभव और परीक्षा में सन्तोषजनक परिणाम देने वाली प्रत्येक वस्तु को सत्य मानता है। उपयोगिता उसका मुख्य मान-दण्ड है और क्रियाशीलता उसका अवलम्ब। शिक्षा को इन्हीं सिद्धान्तों के साँचे में सफलतापूर्वक ढाला गया है। कहा जा सकता है कि जीवन की सफलता का पूरा मसाला व्यवहार-वादी शिक्षा ने 'उपयोगिता और परीक्षण' दो शब्दों में समेट लिया है। जीवन में प्रत्येक कार्य करने से पूर्व मनुष्य का ध्यान उसकी उपयोगिता पर जाता है, यदि पर-संचित अनुभव ठीक ठीक उत्तर सुझा सके तो मानव-मन की तुष्टि बिना संघर्ष में पिटे ही हो जाती है, अन्यथा परीक्षण का सहारा लेना पड़ता है। परीक्षण का परिणाम निर्दिष्ट-कर्म की उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्णय प्रस्तुत करता है और तभी मनुष्य भिन्न परिस्थितियों में कथित कार्य को करने का दम भरता है, या उससे दूर भागता है। व्यवहारवाद जिस प्रकार शिक्षा के लिए शिक्षा, ज्ञान के लिए ज्ञान या आध्यात्मिकता के लिए आध्यात्मिकता को पूर्णतः निरर्थक मानता है; वैसे ही जीवन के किसी भी कर्म को किसी विशिष्ट और प्रकट उपयोगिता के बिना निरर्थक समझता है। प्रकट-उपयोगिता से हमारा अभिप्राय यहाँ वर्तमान भौतिक-लाभ से है। 'सत्य बोलने से स्वर्ग मिलेगा' और 'ईश्वर-भक्ति से मुक्ति प्राप्त होगी' ऐसी भावी-उपयोगिताओं का व्यवहारवाद की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं। उसका प्रथम प्रश्न होगा 'सत्य बोलने से आज क्या लाभ है? अतः व्यवहारवादी शिक्षा ही की तरह जीवनोद्देश्यों मे उपयोगिता को मुख्य रखेगा। वह प्रत्येक कर्म, जिसकी जीवन में कोई भौतिक, नैतिक या बौद्धिक उपयोगिता है, उसके लिए महत्त्वपूर्ण होगा। 'क्या होना चाहिए' उसके लिए बाद की चीज है, 'क्या है' पहली। प्रस्तुत शिक्षा प्रणाली जीवन के उन उद्देश्यों को ही लक्ष्य करती रहेगी, जो मनुष्य का वर्तमान सुधार सकें, उसे प्रगति की प्रेरणा दें, और जीवन को अधिक से अधिक व्यावहारिक बनाएँ। ध्यान रहे, प्रायः उपर्युक्त-गुण-सम्पन्न उद्देश्यों में अधिकतर भौतिक-लाभ की खोज पर ही आँखें नहीं गड़ाई जातीं, बल्कि विद्यार्थी को जीवन में असफलता, कुटिलता, छल और कपट से बचने के लिए प्रयोग, परीक्षण और व्यावहारिकता के ऐसे हर्बे दिये जाते हैं, जो उसके जीवन में कदम-कदम पर उसके सहायक होते हैं। उपयोगिता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह भौतिक हो या

बौद्धिक, मानसिक हो या नैतिक, धार्मिक हो या सौन्दर्यपरक, कार्यान्वित रहती है। इसी से जीवन में आनन्द की कल्पना की जाती है, इसी से जीवन में सन्तोष और सुख प्राप्त है, यही है जीवनोन्नति का सोपान। शिक्षार्थी से लेकर समाज में समन्वय-निर्माण तक, व्यवहारवादी-शिक्षा उपयोगिता को ही उद्देश्य बनाए हुए है और उसके अनुसार उपयोगिता की परख करने में असमर्थ जीवन निकृष्ट कोटि का जीवन है।

लेकिन हम व्यवहारवाद के इस सर्वांगत्वा उद्देश्य का अभिनन्दन करते हुए भी इस बात में पूरी तरह सहमत नहीं कि जीवन में आने वाली प्रत्येक घटना या किये जाने वाले प्रत्येक कर्म में उपयोगिता ढूँढी ही जाए। जीवन में हमें अनेक कार्य प्रयोजन-विचार के बिना भी करने पड़ते हैं। परिस्थिति-वश, कई बार, हम भली भाँति जानते हैं, कि हमें गलत आज्ञा दी गई है और उसमें कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकती, उल्टे परिणाम बिगड़ सकता है, तो भी हमें आज्ञा-पालन करना ही पड़ता है। कभी हमारी मानसिक स्थिति हमें प्रयोजन-विहीन विचार करने, इधर-उधर घूमने या सोने पर विवश कर देती है। लोगों का चलते-चलते गुनगुनाना, चाभियों का गुच्छा घुमाते रहना, छड़ी हिलाते हुए चलना, लड़कियों में अपनी चोटी के फुंदे से खेलते रहना आदि अनेक ऐसे कर्म हमें दीख पड़ते हैं, जिनमें कोई प्रयोजन या उपयोगिता की पृष्ठभूमि स्वीकार नहीं की जा सकती। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी को उपयोगिता बताते हुए प्रयोग द्वारा शिक्षित करना निस्सन्देह एक सुढंग माना जा सकता है, परन्तु उनका यह अभिप्राय हम कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि किसी सिद्धान्त को मात्र सिद्धान्त-रूप में समझा ही नहीं जा सकता। साँप के मुँह में अंगुली देने से पूर्व यदि हमें उसके खतरे से सूचित कर दिया जाए, तो अधिक अच्छा होगा या प्रयोग करने देने की अनुमति श्रेय होगी? रॉस के मतानुसार भी कभी किसी नियम को प्रयोगात्मक रूप देने से पहले बुद्धिपूर्वक समझ लेना अधिक उचित हो सकता है।

भारतीय शिक्षा-पद्धति पर व्यवहारवाद का प्रभाव—

भारतीय शिक्षा प्रायः आदर्शवादी ढर्रे पर ज्ञान के लिए ज्ञान को ही सत्य मानकर, उसकी प्राप्ति हेतु प्रयत्न करती रही है। इसमें शिक्षा का केन्द्र अध्यापक रहा है, विद्यार्थी नहीं। विद्यार्थी द्वारा अध्यापक के निर्देशों का पालन ही शिक्षा की सफलता मानकर स्वीकार की जाती रही है। बालक की रुचियों या मनोवृत्तियों का अध्ययन करने की अपेक्षा भारतीय-शिक्षक उसमें यह आशा रखता रहा है, कि ज्ञान

स्वयं उसके विचारों के अनुसार अपने को परिवर्तित और परिपक्व प्रस्तुत करेगा। पुनः शिक्षा का क्षेत्र बौद्धिक-मानसिक विकास ही माना जाता रहा है, शास्त्रीय-शिक्षा ही मुख्यतः अपनाई जाती रही है; उसमें उपयोगिता या प्रयोग को कहीं स्थान नहीं दिया गया। संयमित वातावरण में पनपने के कारण स्वानुभव का अभाव तथा निष्क्रियता की अधिकता ही शिक्षा के लक्षण रहे। उद्योग-धन्धों की शिक्षा, जो उपयोगी और क्रियाशील (सक्रिय) दोनों हो सकती है, लगभग शिक्षा-क्षेत्र से दूर ही रही। परन्तु आज व्यवहारवाद से प्रभावित हो, उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जो उत्तरोत्तर उन्नति का मार्ग प्रस्तुत कर रहे हैं। भारतीय-शिक्षा क्षेत्र में औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा का समावेश, मेरे मत में, व्यवहारवाद का सबसे बड़ा प्रभाव माना जाना चाहिए। भौतिक-उपयोगिता, क्रियाशीलता, व्यावहारिकता, स्वानुभव या करो और सीखो आदि के सभी लक्ष्य किसी भी प्रकार की औद्योगिक-शिक्षा में देखे जा सकते हैं। साधारण शास्त्रीय विद्यालयों में भी अध्यापक का एकाधिपत्य धीरे धीरे समाप्त होता जा रहा है। शिक्षा का केन्द्र अध्यापक न रहकर विद्यार्थी बन रहा है। अध्यापक का कर्त्तव्य बनता जा रहा है कि वह अपने छात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करता हुआ, पठन-पाठन में, उनकी रुचि का पूरा ध्यान रखे। स्कूलों में जॉन ड्यूई की प्रसिद्ध लोकतन्त्रात्मक-प्रणाली बड़ी तेज़ी के साथ अपनाई जा रही है। कॉलेजों में तो विद्यार्थी-प्रतिनिधि सभाओं का निर्माण पुराना हो चुका है। कॉलेज-व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य सभी क्रियाएँ विद्यार्थियों द्वारा नियोजित हो रही हैं, हजारों रुपयों का लेखा उन्हें सौंपा जा रहा है—उनमें उत्तरदायित्व की भावना पैदा की जा रही है। अध्यापन-विधियों में भी भारत की आधुनिक-शिक्षा व्यवहारवाद से प्रभावित दीख पड़ती है। औद्योगिक-शिक्षा क्षेत्र में प्रयोग प्रणाली पूर्ण-रूपेण अपना ली गई है, उसकी विशेषताओं को सर्व सम्मति से स्वीकार कर लिया गया है। शिक्षा में समेकन का स्वरूप भी कुछ सीमा तक हरबार्शियन-पद्धति (Herbartian Method) द्वारा प्रविष्ट हो चुका है। बालकों को सक्रिय बनाने के लिए अनेक प्रकार की पाठ्य-क्रमेतर-गतिविधियों का प्रचार किया जा रहा है। 'पाठ्य-क्रम' शीर्षक में परीक्षा के क्षेत्र में जिस वांछित परिवर्तन की बात हम ऊपर कह आए हैं, उस पर भी प्रयोग होने लगे हैं। भारतीय-विद्यालयों में परीक्षा का स्वरूप बदलने के अत्यधिक प्रयत्न किये जा रहे हैं। कई सम्मतियां प्रस्तुत की गई हैं। कुछ विचारकों के मत में वर्ग-प्रगति वर्ष भर के क्रियात्मक-कार्य पर आधारित होनी चाहिए, कुछ प्रश्न-पत्रों पर अंकन की अपेक्षा स्तर-परीक्षण पर जोर दे रहे हैं, कुछ ऐसे भी हैं, जो वैषयिक-परीक्षण (Objective Tests) को अपनाने में ही भला समझते हैं। तात्पर्य

यह कि व्यवहारवादियों से प्रभावित होकर आधुनिक भारतीय शिक्षा-विचारक, परिवर्तन का अमोघ अस्त्र धारण कर नव-युग को नव-संदेश देने की तैयारियाँ कर रहे हैं; परन्तु उनकी पृष्ठभूमि भौतिक न कभी हुई है, और न होगी। उनका व्यवहारवादी प्रासाद आदर्श की नींव पर ही खड़ा होगा, ऐसी आशा की जाती है।

परिशिष्ट

आदर्शवाद, प्रकृतिवाद तथा व्यवहारवाद का तुलनात्मक सार

उपर्युक्त तीनों सिद्धांतों का अध्ययन हम पीछे कर चुके हैं। उनके ध्यानपूर्वक पाठ से हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक सिद्धान्त, विचारों में भिन्नता होते हुए भी मानव-प्रकृति के आदर्शों को लक्ष्य बनाए हुए है; जुदी बात है, यदि भिन्न सिद्धान्त मानव-प्रकृति के प्रति भिन्न दृष्टिकोण रखते हों। मनुष्य, प्रकृति तथा आत्मा, ये तीनों ही दर्शन-शास्त्र के विषय रहे हैं और सैद्धान्तिक-स्थिति के नाते प्रधान-विचारकों ने इनके सम्बन्ध में तर्क भी जुटाए हैं। आदर्शवाद आत्मा की सत्यता स्वीकार करता है और मनुष्य तथा प्रकृति, दोनों का आध्यात्मिक-आधार चुनता है। प्रकृतिवाद आत्मा की उपेक्षा करता है। मनुष्य की विशिष्टता को भी प्राकृतिक-स्तर तक खींच लेता है। व्यवहारवाद इन दोनों से अनोखा है; आत्मा और प्रकृति की दो विपरीत परिस्थितियों के बीच का मार्ग अपनाता है। इसे मध्यम मार्गी-दर्शन या मानववाद भी कहा जाता है। वह प्रकृति को निष्पक्ष मानता है और उसी क्षेत्र में मनुष्य की क्रियाशीलता को महत्त्व देता है। ध्यान रहे कि उसके समीप मानव की यान्त्रिक-क्रियाशीलता का कोई मोल नहीं, केवल प्राकृतिक अनुभवों में ही आदर्शों को केन्द्रित करता है। आत्मा के प्रति यह भी उदासीन है। इस प्रकार आत्मा, प्रकृति तथा मनुष्य सब पर दार्शनिकों ने पुष्ट विचार प्रकट करते हुए क्रमशः आदर्शवाद, प्रकृतिवाद तथा व्यवहारवाद की नींवें रखीं। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हम इसी निर्णय पर पहुँच पाते हैं, कि प्रस्तुत तीनों सिद्धान्त एक दूसरे से कदापि पृथक् नहीं। पिछले दोनों का पोषण भी कहीं न कहीं आदर्शवाद के ही आश्रय हो रहा है। प्रकृति या मनुष्य, कोई भी अपरिमित नहीं। प्रकृति जड़ है, मनुष्य सक्रिय है, परन्तु कोई अपने में पूर्ण नहीं कहा जा सकता। प्रकृति को यदि अनन्त कहने की अपेक्षा विस्तृत-व्यष्टि कहा जाए, तो अधिक उचित होगा। दूसरी ओर मनुष्य तथा प्रकृति, उस 'पूर्ण' विचार और उद्देश्य (Absolute thought and purpose) के बीच देश-काल में घटित वातावरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्रकृति मनुष्य की दासी नहीं, जब कि मनुष्य उसके किसी एक अंश को अखाड़ा बनाए अपनी क्रियाशीलता का प्रदर्शन करने का सामर्थ्य पाए हुए है। पुनः प्रश्न उठता है कि अपरिमित-मन क्या है ? ईश्वर ?

वैषयिक-आदर्शवादी (Objective Idealist) लगभग इसे स्वीकार करेगा, परन्तु अन्य विचारक नहीं। क्योंकि अपरिमित-मनस् दार्शनिक पारिभाषिक-शब्द है और 'ईश्वर' धार्मिक, और फिर भिन्न धर्म ईश्वर को भिन्न रूपों में स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि अपरिमित-मन आदर्श-जगत् का वह महत्त्वपूर्ण विचार है, जो देश और काल की सीमाओं से बाहर मन, बुद्धि और आत्मा के आध्यात्मिक अस्तित्व पर जोर देता और मानव की सर्वाङ्गीण उलझनों का निवारण करता है। न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी के प्राध्यापक, श्री हर्मन एन० हार्न ने इस समस्या पर निर्णय देते हुए लिखा है कि 'हमारी राय में तो मानववाद, जो मनुष्य केन्द्रित है, प्रकृतिवाद से उत्तम है, क्योंकि उसमें मानवीय सृजनात्मकता को स्वीकार तो किया गया है; और आदर्शवाद, जो आत्मा पर आधारित है, व्यवहारवाद से उत्तम है, क्योंकि वह सृजनात्मकता के साथ-साथ पूर्ण-मन तथा मनुष्य के व्यक्तित्व को भी बनाए रखता है।[1]

उपरि-उद्धृत लेखक तीनों दर्शनों तथा शिक्षा-सिद्धान्तों के लक्ष्यों और दृष्टि-कोणों का सार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

प्रकृतिवाद	व्यवहारवाद	आदर्शवाद
प्रकृति (प्रकृति-केन्द्रित)	मनुष्य (मानव-केन्द्रित)	आत्मा (आध्यात्म-केन्द्रित)
शरीर (भूत)	मनस्	आत्मा
ज्ञानेन्द्रियाँ	सृजन तथा विकास	आध्यात्मिकता
वास्तविकता (जो है)	व्यावहारिकता (जो किया जा सकता है)	आदर्शता (जो होना चाहिए)
पशु-शक्ति	बौद्धिक-शक्ति	पूर्ण-विशुद्धता (Absolute Right)
जीना	सामाजिक-जीवन	त्याग करना
सान्निध्यता	व्यष्टित्व	व्यक्तित्व

१. In our own judgment humanism, centering in man, is better than naturalism, because humanism saves man's creativity; and idealism, centering in spirit, is better than pragmatism, because in addition to creativity, idealism saves both the absolute mind and the human-personality—H. H. Horne, An Idealistic Philosophy of Education.

शिक्षा में गाँधीवाद (बुनियादी तालीम)

आज से लगभग दो दशाब्द पहले भारतीय शिक्षा की तत्कालीन परिस्थिति के प्रति विद्रोह रूप में इस बुनियादी तालीम के बीज बोये गये थे; बोने वाले थे महात्मा गान्धी। लार्ड विलियम बैंटिक के समय मैकॉले-दल की विजय ने भारतीय शिक्षा को दासता की उन शृङ्खलाओं में जकड़ लिया था कि भारत ने अपनी भाषा, अपने भाव और अपनी विधियाँ ही नहीं गंवायीं प्रत्युत अपनी संस्कृति पर गुप्त आघात सहते-सहते उसे भुला ही दिया। अंग्रेजी शिक्षा के उन्माद में, सरकारी नौकरी पाने की धुन में और विवशता के ही दूसरे नाम को संयम का रूप देते हुए भारतीय-जन जागते हुए भी सोते थे और खोकर भी भूले पड़े थे। ऐसे में गान्धी जी, जो पहले से ही राजनीतिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों में अमिट प्रभाव बना चुके थे, शिक्षा-क्षेत्र की ओर भी झुके। उन्होंने भारत की शिक्षण-पद्धति में भी गुलामी के साक्षात् दर्शन किये, गुलामी में युवक हृदय को तड़पते देखा, उच्च शिक्षा की प्राप्ति के बाद क्लर्क वर्ग की बहुजन उत्पत्ति का अनुभव किया, लोभ के आवरण में छिपी अंग्रेजी शिक्षा की प्राप्ति के उपरान्त विद्यार्थी के बेकार जीवन का आभास पाया और जान लिया इन सबके एकमात्र कारण 'शिक्षा के अशुद्ध रूप' के परिवर्तन की आवश्यकता को। उन्होंने महसूस किया कि दासत्व के ढांचे में ढली तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में मानव के व्यक्तित्व के विकास का कोई अवसर ही नहीं रह जाता। शिक्षा मनुष्य के मस्तिष्क में अपने प्रति विश्वास उपजाने की अपेक्षा, घटियापन के भाव और जूठी पत्तल चाटने की प्रवृत्ति भर रही थी। भारतीय लोग यह भूल चुके थे कि उनके पास यदि धन-बल नहीं तो जन-बल तो है; और यदि वे चाहें तो संयुक्त रूप में किसी भी समस्या का हल सुगमतापूर्वक प्रस्तुत कर सकते हैं। गान्धी जी इस सम्पूर्ण परिस्थिति का अध्ययन कर चुके थे और अब उनके सम्मुख अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों को तीव्रतर बनाने के लिये एक नया विचार ज़ोर मारने लगा था—शिक्षण-पद्धति को बदलने का। वे समझते थे कि दासता की यह पद्धति बाल-हृदय पर ही गुलामी की ऐसी छाप अंकित कर देती है, कि बड़े होकर वे विद्यार्थी देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति के मूल्यांकन की लगभग उपेक्षा ही कर बैठते हैं। अतः आवश्यक समझा गया कि शिक्षा को बाल-केन्द्रित कर मनोवैज्ञानिक रीति से बच्चों को शुद्ध भारतीय ही बनाए रखा जाए। इसी में देशोद्धार के स्वप्न गान्धी जी देखते थे।

दूसरी बात जो महात्मा गान्धी के सम्मुख समस्या बनी, वह थी भारत की ग़रीबी।

भारत के मुट्ठी भर नगरों में चाहे कंचन क्यों न बरसे, उसके सात लाख गाँवों की स्थिति गान्धीजी का ध्यान अपने पर केन्द्रित किये थी । गान्धीजी जानते थे कि तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा नागरिक और महँगी होने के कारण, भारत की लगभग ८५ प्रतिशत ग्रामीण आबादी के योग्य नहीं और फिर किसी भी देश की १५ प्रतिशत शिक्षित जनता उसके उत्थान का कारण कभी बन सकती है इसमें सन्देह था । गान्धीजी किसी ऐसी शिक्षा की परियोजना चाहते थे जो ग्रामीणों की परिस्थितियों के अनुकूल हो, और भारत की निर्धनता में किसी पर आर्थिक बोझ न बने । अपने जीवन में, राष्ट्र नेता होने के नाते, गान्धी ने बहुत कुछ देखा, समझा और परखा था । उसी के कारण चिन्न उसके सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर रहे थे; उन्हीं का समाधान वे नई शिक्षण-पद्धति में ढूँढ़ना चाहते थे ।

गान्धी जी तत्कालीन शिक्षा की निष्क्रियता पर झल्लाते थे। वे विद्यार्थी को पुस्तक का घोटू या शब्दों का भण्डार नहीं देखना चाहते थे । उनके मतानुसार छात्र को पुस्तक से नहीं, वातावरण से पढ़ना है—इस दृष्टिकोण से वे पक्के प्रकृतिवादी बन जाते हैं और वे भी जैविकीय कोटि के। शिक्षा में सक्रियता का महत्त्व उन्होंने न केवल स्वीकार ही किया था, बल्कि उसके प्रचार के लिए शिक्षा की तद् स्थिति को बदलने का बीड़ा ही उठा लिया था । यह बात सन् १९१९ से ही सम्भवतः उनके मस्तिष्क में चक्कर लगा रही थी, परन्तु १८ वर्ष तक उसका कोई ठोस परिणाम न निकला । कारण स्पष्ट था—उनका राजनैतिक संघर्ष में अति व्यस्त रहना। अन्ततः सन् १९३७ में गान्धीजी ने शिक्षा की योजना को निर्णयात्मक रूप दे ही दिया और सबसे पहले 'हरिजन' पत्र में इस की घोषणा भी कर दी गई । वर्धा-आश्रम के वातावरण में ही इस योजना की नींव रखी गई और स्वयं गान्धीजी के ही प्रधानत्व में वर्धा के मारवाड़ी हाई स्कूल में, जिसका पुनर्नाम 'नवभारत विद्यालय' रखा गया, एक भारी सभा बुलाई। सभा प्रथम अखिल-भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सभा के नाम से प्रसिद्ध है। अक्तूबर २२ तथा २३ सन् १९३७ को उस सभा में गान्धीजी के भाषण के अतिरिक्त अनेक अन्य विद्वानों, ज़ाकिर हुसैन, महादेव देसाई, के० जी० मशरूवाला आदि ने शिक्षण-योजना के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला और कुछेक प्रस्ताव पास किये गये । एक समिति भी नियुक्त की गई, जिसके मुखिया श्री ज़ाकिर हुसैन बने । इस समिति को भारत में शिक्षा की स्थिति का सम्पूर्ण अध्ययन करके नई योजना के अपेक्षित स्वरूप का निरीक्षण करना था, और समिति ने बड़ी कुशलता के साथ अपना कर्तव्य निभाते हुए मार्च १९३८ में ही गान्धीजी के सम्मुख रिपोर्ट प्रस्तुत की । इसी रिपोर्ट के अनुसार तथा सभा में स्वीकृत प्रस्तावों के आधार पर गान्धीवादी शिक्षा की नींव रखी गई। इसे बुनियादी-तालीम के नाम से पुकारा गया। वर्धा योजना भी इसी को कहते हैं ।

गान्धीजी का शिक्षा-दर्शन—

गान्धीजी को तर्कशील दार्शनिक न भी कहा जाये, तो वे श्रद्धावान् विचारक तो थे ही। और उनकी शिक्षा-योजना उसी विचारधारा का क्रीड़ास्थल कही जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। विचारक के नाते वे आदर्शवादी धारणा रखने वाले एक ऐसे महापुरुष थे, जो ईश्वरीय पृष्ठभूमि पर मानवीय गुणों की फसल बोना, सींचना और काटना ही अपना लक्ष्य बनाए रहे। वे एकेश्वरवादी थे, सृष्टि के तत्वों के सम्बन्ध में उनके विचार पक्के अद्वैतवादी थे। ईश्वर के सम्पूर्ण एकत्व (Absolute Oneness) में विश्वास रखने के कारण ही, वे मनुष्यमात्र के एकत्व में विश्वास रखते थे। उनके लिए भौतिक शरीरों की भिन्नता आध्यात्मिक-शक्ति की एकता स्वीकार करने के मार्ग में कभी बाधक न थी। वे मानते थे कि जिस प्रकार सूर्य की असंख्य किरणें एक ही स्रोत से जन्म लेती और वहीं मग्न हो जाती हैं, सागर की अगणित लहरें सागर से जुदा होती हुई भी जुदा नहीं होती, ठीक वैसे ही असंख्य मनुष्य चाहे अनेक भूत-धारण कर क्यों न आएं, परन्तु उनका स्रोत तो एक ही है, ठीक वे जुदा दिखते हुए भी जुदा नहीं हैं। इसीलिए मैंने उन्हें श्रद्धावान् विचारक कहा है। गान्धीजी जीवन में समेकन स्वीकार करते हैं, ईश्वर में विश्वास रखते हैं और उसे सर्वशक्तिमान् मानते हैं। वे लिखते हैं। कि 'केवल ईश्वर ही सत्य है, संसार माया है। सृष्टि के परिवर्तन में केवल वही स्थिर है।'[1] वे ईश्वर को जीवन, प्रकाश और सत्य के साथ-साथ सर्वोपरि शिव स्वीकार करते हैं। इसके लिए उन्हें किसी तर्क का आश्रय लेने की कोई आवश्यकता नहीं, विश्वास ही उनका साथी है।

सत्य, अहिंसा और प्रेम, ये तीनों गान्धीजी के विचारों के आधार स्तम्भ हैं। सच तो यह है कि उनके लिये सत्य ही ईश्वर का रूप है। कहीं कहीं तो उन्होंने स्पष्ट ही ईश्वर को सत्य न पुकार कर सत्य को ही ईश्वर कहा है। यही उनकी विचारधारा या दार्शनिकता का लक्ष्य है, साध्य है। साधन का प्रश्न उठता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिये कौन से साधन अपनाए जायें ? गान्धीजी का संकेत अहिंसा की ओर है। स्वयं उन्होंने नवजीवन प्रकाशन की एक पुस्तक 'फ्रॉम दि यर्वदा मन्दिर' में कहीं लिखा था कि सत्य और अहिंसा दोनों परस्पर इतने सम्बन्धित हैं, कि जुदा नहीं किये जा सकते। फिर भी सत्य साध्य है और अहिंसा उसका साधन। साधन को अपनाना हमारा कर्त्तव्य होता है, तभी लक्ष्य प्राप्ति होती है। अतः गान्धीजी के विचार में अहिंसा पर आचरण

---

१. God alone is real, the world is illusion. He alone persists in the midst of change—Young India quoted by M. S. Patel.

करना ईश्वर की समीपता लाभ करने के बराबर है । अहिंसा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की हो सकती है । साधन से साध्य मिलता ही है और यहाँ साध्य सत्य है, जिसे गान्धीजी साक्षात् ईश्वर ही मानते हैं, कहा जा सकता है कि गान्धीजी के अनुसार अहिंसा का पालक ईश्वर-दर्शन कर सकता है । अहिंसा धर्म के पालन के लिए भी गान्धीजी के लेखों में कुछ संकेत मिलते हैं । उनका ख्याल है कि मनुष्य को सांसारिक आकर्षणों से ऊँचा उठना चाहिए, हृदय की पवित्रता, भय और अभिमान का त्याग, कपट और छल के प्रति घृणा तथा मन, वचन और कर्म में वासना का अनाकर्षण आदि भाव, मनुष्य को उसके उद्देश्य में सहायता देते हैं । इन्हीं से अहिंसा को सक्रिय करने की प्रेरणा मिलती है, और मनुष्य को दुर्वृत्तियों की दासता से मुक्ति ।

कौन कर सकता है इस गान्धीवादी अहिंसा का पालन ? जो ईश्वर के बनाए जीव-जन्तु या प्राणी-मात्र ही नहीं बल्कि कण-कण से प्रेम करता है । घृणा ही हिंसा की जन्म-दात्री है । दूसरे को शारीरिक या मानसिक पीड़ा केवल तभी दी जाती है जब हृदय में किसी कारण उसके प्रति घृणा पैदा हो जाए । अहिंसा के पुजारी और प्रचारक गान्धीजी प्रेम का साम्राज्य बनाने के स्वप्न देखते थे, घृणा का नहीं । उन्होंने स्वयं अपने जीवन को प्रेम की प्रतिमूर्ति बना लिया था । संसार जिन निम्न जातियों से घृणा करता है, अपना आंचल बचा कर चलता है, गान्धी जी उन्हीं के मलिन देह के सुन्दर वक्षस्थल में ईश्वर को पाते थे और उन्हें 'हरिजन' कह कर उनके साथ पितृवत् प्रेम का व्यवहार करते थे । वे घृणा को शरीर की सद्वृत्तियों का विनाशक नाग मानते थे । अतः उनकी विचारधारा का तीसरा स्तम्भ प्रेम है, जिसको अपनाने वाला ही अहिंसा का पालक होगा और अहिंसा को कर्तव्य समझने वाला सत्य मार्ग पर चलेगा और ईश्वर-दर्शन के लाभ कर सकेगा । ऐसा गान्धीजी का विश्वास था । प्राणी-मात्र से प्रेम का जो आदर्श गान्धी ने प्रस्तुत किया था, वह मनुष्यता का सन्देश था । कवि सुमित्रानन्दन पंत इस पर जोर देते हुए स्पष्ट लिखते हैं :—

"मनुष्यत्व का तत्व सिखाता, निश्चय हमको गान्धीवाद ।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद ।"

'जाति, वर्ग, वर्ण, धन और शक्ति की कृत्रिम सीमाओं से बाहर एक सार्वलौकिक स्वतन्त्र मानव-लोक की स्थापना करना गान्धी का स्वप्न था । ऐसी समाज-रचना का आन्दोलन मानवीय-भ्रातृत्व की अभिवृद्धि का प्रतीक होगा और तब इसी से उस 'पूर्ण-सत्य' का भान सम्भव होगा ।..... गान्धी जी द्वारा प्रस्तुत की गई सामाजिक-व्यवस्था दूसरे के प्रति सम्मान और सन्ताप से तो मुक्त होनी ही चाहिए । वे उद्यमी-वीरों का एक वर्गहीन समाज चाहते थे । इस शान्त और अहिंसक समाज की

नैतिक अधिकार तथा नैतिक शक्तियों पर ही आधारित होना चाहिए। पूँजीवाद से बचने के लिए गान्धीजी खेती और उद्योग के अकेन्द्रित आर्थिक और सामाजिक ढाँचे की इच्छा रखते हैं।"[१] अभिप्राय यह कि उनके सम्मुख 'समानता' अनिवार्य है। वे मनुष्य को मनुष्य का दास नहीं, साथी देखना चाहते हैं। इसीलिए वे यीशू क्राइस्ट के शब्दों में 'अपने पड़ोसी को ऐसे प्यार करो, जैसे अपने आपको करते हो' की पुनरावृत्ति किये विना रह नहीं सके और 'मानव सेवा ही ईश्वर-सेवा है' की सूक्ति को सजग बना गए। उसके सर्व-व्यापक होने में तो गान्धीजी को कोई सन्देह था ही नहीं। वे तो स्पष्ट शब्दों में ईश्वर को पाने का स्थान उसके निर्मित प्राणियों को ही घोषित करते हैं। उन्हीं में ईश्वर है। गीता गान्धीजी की सदैव पथ-प्रदर्शिका रही है, अतः श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गए उपदेश को वे कभी नहीं भूल सके। उनकी विचारधारा में कर्मक्षेत्र में संघर्ष करते रहने की भावना का ऊँचा स्थान है। ईश्वर के बनाए प्राणियों के प्रति कर्त्तव्य का पालन करना अर्थात् कर्म के प्रति कटिबद्ध रहना ही वास्तव में ईश्वर की प्रसन्नता है, वही ईश्वर प्राप्ति का साधन है। गान्धीजी जन-सेवा ही देव-सेवा मानते हैं, और गुरुदेव ठाकुर के स्वर में स्वर मिलाते हुए कह उठते हैं—

'विधि के बनाए जीव जेते हैं, जहाँ के तहाँ;
खेलत फिरत, तिन्हैं खेलत फिरत देव।'

गान्धीजी की उपर्युक्त विचारधारा के अवगाहन के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं, कि उनके ख्याल में मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य सत्य-लाभ (ईश्वर-प्राप्ति

---

१. His dream was the establishment of a universal community of free persons without artificial barriers of caste, colour, creed, wealth and power. The movement of such a society should be towards human brotherhood and then to the realisation of the Absolute .....Such a social order contemplated by Gandhiji must be free from any type of exploitation and injustice. He wants to build up a classless society of workers. This non-exploiting society must rely upon moral force and moral sanctions. To avoid capitalism, he proposes to build up the economic and social structure on decentralised industry and agriculture —Educational Philosophy of M. Gandhi by M. S. Patel P. 14.

या ईश्वर-ज्ञान) होना चाहिए, जिसके साधन प्रेम और अहिंसा में निहित हैं। ध्यान रहे गान्धी जी त्याग, वन-प्रस्थान या एकान्त को इस लक्ष्य-प्राप्ति में कोई स्थान नहीं देते। समाज में रहना, अपने साथी मनुष्यों की सेवा करना, उनसे प्रेम रखना, जीवन में सद्गुणों के विकास का प्रयास करते रहना आदि ही गान्धीजी के इस परम-शिव (Summum Bonum) उद्देश्य की पूर्ति के साधक हैं।

गान्धीवादी शिक्षा (गान्धीजी के शिक्षा सम्बन्धी विचार)—

"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के उत्कृष्ट और सर्वाङ्गीण विकास से है। साक्षरता शिक्षा की अन्तिम सीढ़ी नहीं, न ही प्रथम सोपान। यह तो पुरुष और स्त्री को शिक्षित करने का एक साधन है। अपने में साक्षरता शिक्षा नहीं कहला सकती।"[१] गान्धीजी शिक्षा को मनुष्य के सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व के विकास का आधार मानते थे। विद्यार्थी को 'शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा के समन्वित रूप' से कुछ भी कम देने के पक्ष में न थे। उनका मत था कि बालक के ऊपर दबाव रखकर यदि उसे पुस्तकें रटाई जाएं तो बचपन से ही उसके पनपने के मार्ग में बाधा उपस्थित हो जाएगी और वह अपने में बौनापन महसूस करता रहेगा। अच्छा हो यदि मनोवैज्ञानिक स्थिति को लक्ष्य बना, बालक की रुचियों के माध्यम से ही उसे कुछ सिखाया जाए। गान्धीजी इस विचार की पुष्टि में बालक की आरम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में ही किसी न किसी उद्योग का समावेश अपेक्षित समझते हैं। उनके विचार में साधारण बालक निष्क्रियता को कभी पसन्द नहीं करता। वह तोड़-फोड़ चाहता है, स्वयं अपने नन्हे हाथों से वह कुछ करना चाहता है, करता है। इसमें उसे प्रसन्नता होती है और यदि कहीं उसकी सक्रियता या उद्योग का कुछ मोल भी पड़ जाये, तब तो वह बाग-बाग हुए बिना रहेगा ही नहीं। ध्यान रहे, गान्धीजी प्रारम्भिक शिक्षा में अपनाए जाने वाले उद्योग को यान्त्रिक-रूप कभी न देना चाहते थे। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की वैज्ञानिक शिक्षा दी जाने पर बापू ने जोर दिया है और उनका मत है कि इस प्रकार बालक प्रत्येक श्रम का मूल और सिद्धान्त, दोनों समझ सकेंगे। कुछ आलोचकों ने ऐसी विचारधारा पर

---

१. By education, I mean an allround drawing out of the best in child and man—body, mind and spirit. Literacy is not the end of the education nor even the beginning. It is one of the means whereby man and woman can be educated. Literacy in itself is no education.—'Harijan' dated 31. 7. 37. Quoted by M. S. Patel.

प्रतिवाद करते हुए लिखा भी, कि ऐसा करने से स्कूल पाठशाला न रहकर लगभग उद्योगशालाएँ बन जाएँगे। परन्तु उद्योग के माध्यम से प्राप्त किया जाने वाला गान्धी जी का लक्ष्य 'लड़के-लड़कियों के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास' स्वयं ही उनके प्रतिवाद का उत्तर बन गया, क्योंकि ऐसा करने से पाठशाला पाठशाला ही रहेगी और लक्ष्य सिद्धि का मार्ग स्वयं खुलता चला जाएगा। अतः गान्धीजी बाल-मनोविज्ञान तथा बाल-रुचियों पर शिक्षा-परियोजना को आधारित कर उसे बाल-केन्द्रित तथा माध्यम रूप में उद्योग को अपना, उसे उद्योग-केन्द्रित (Craft-Centred) बनाना चाहते थे। वे उद्योग को शिक्षा का एक सामान्य विषय नहीं बनाना चाहते, बल्कि उसे केन्द्र बना अन्य सभी विषयों का अध्यापन उसी के माध्यम से करना चाहते हैं। गान्धीजी के प्रस्तुत विचारों पर स्पष्ट ही व्यवहारवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है और वे जॉन ड्यूई से सहमत होते हुए पाठ्य-क्रम का निर्वाचन ही क्रियाशीलता पर आश्रित रखना चाहते हैं, सो यह निर्विवाद सिद्ध है कि गान्धीवादी शिक्षा बाल-केन्द्रित तथा उद्योग-केन्द्रित होने की विशेषताएँ लिए है।

गान्धीवादी शिक्षा की तीसरी मुख्य विशेषता, माध्यम रूप से चुने जाने वाले उद्योग का, आत्म-निर्भर (Self-supporting) होना है। गान्धीजी उद्योग की आत्म-निर्भरता पर इसलिए जोर देते हैं कि इससे विद्यार्थी अपने भावी जीवन में आत्म-निर्भर बनने और अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने की प्रेरणा पाता है। इतना ही नहीं, छात्र शिक्षा-काल में अपने माता-पिता पर बोझ नहीं रह जाता। इस बीच जो कुछ भी वह बनाता या तैयार करता है, उसके विक्रय से आय का एक स्थायी साधन बनाया जा सकता है। सात वर्ष की इस बुनियादी तालीम की अवधि पूरी होने पर विद्यार्थी एक कमाऊ व्यक्ति होता है, अपने परिवार की आजीविका चलाने में वह अपने माता-पिता की सहायता करता है। इस प्रकार, गान्धीजी के मता-नुसार, यह शिक्षा विद्यार्थी के भावी जीवन में बेकारी के विरुद्ध महान् क्रान्ति बनकर जगती है। महात्मा गान्धी तो यहाँ तक स्पष्ट लिखते हैं कि बुनियादी शिक्षा लेते हुए विद्यार्थी जो कुछ भी उत्पादन करें, वह सब सरकार द्वारा क्रय होना चाहिए और उसकी आमदन से कम-से-कम अध्यापकों के वेतन का प्रश्न तो सुलझ ही जाना चाहिए। अतः शिक्षा में उद्योग के समावेश से न केवल छात्रों के व्यक्तित्व का सांगोपांग विकास ही होगा, प्रत्युत पाठशाला और उसके बड़े रूप समाज दोनों, में आत्म-निर्भरता का साम्राज्य होगा।

उद्योग को आत्म-निर्भर बनाए रखने के लिये विद्यालयों में अनुसन्धान और खोज की जाएगी। विद्यार्थी स्वयं कला के उत्थान के लिए अपनी सुकोमल बुद्धि के आश्रय नये-नये प्रयोग करेंगे। प्रयोगों से न केवल उन्हें आगे बढ़ने का पथ-प्रदर्शन ही मिलेगा

बल्कि वे अपने-अपने कार्य में दत्त-चित्त रहने से सत्यान्वेषी नागरिक अहिंसा का भी सम्यक् पालन कर सकेंगे। क्योंकि उद्योग का आधार प्रायः सामूहिक क्रिया-शीलता होती है, अतः छात्रों में स्वभावतः ही परस्पर सहयोग, सहकारिता और सम्मान के गुणों का आविर्भाव होगा। वे दूसरों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझेंगे, अपने गिर्द सामाजिक वातावरण की स्थापना करेंगे और बदले में अपने अधिकारों का सम्यक् लाभ उठा सकेंगे। यह गान्धीवादी शिक्षा की पाँचवीं विशेषता कही जा सकेगी—सामाजिक-उत्तरदायित्व का परिवर्द्धन।

अब प्रश्न पैदा होता है कि गान्धीवादी शिक्षा किस माध्यम से, किस आयु में और किस स्तर तक दी जानी चाहिए। गान्धीजी इस पर चुप नहीं। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार बुनियादी शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होनी चाहिए। बालक किसी भी प्रान्त या प्रदेश से सम्बन्धित हो, उसे उसी प्रदेश की सामान्य भाषा में शिक्षित करना उसके बौद्धिक और मानसिक विकास के द्वार खोल देने से कुछ भी कम नहीं। मातृ-भाषा से बाहर की शिक्षा निःसन्देह बालक को सुगमतापूर्वक अपने विचार प्रकट करने में सहायता नहीं दे सकती। उसके अनेक भाव कह न सकने के कारण अन्दर ही घुट कर रह जाते हैं। वह निराश हो जाता है, निराशा गम्भीर होती है, वह समय से पूर्व बूढ़ा हो जाता है। बालक अपना चुलबुलापन, सरल-चंचलता तथा हास्य खो बैठता है, दूसरी भाषा उस पर बोझ बन जाती है, वह दब जाता है, पिस जाता है। उसके गुणों का विकास नहीं होता, व्यक्तित्व का ह्रास हो जाता है। शिक्षा आयु के सम्बन्ध में गान्धीजी बालक की वह अवस्था चुनते हैं, जिस में बालक कुछ करना चाहता है, किसी का सहारा उसे खलता है। माता की गोद से उतर कर, क्रीड़ा स्थल पर ही नहीं, जीवन-क्षेत्र में पहला कदम रखता है। दूसरों को देखता है, समझने का प्रयास करता है, परखता है, परिणाम तक भी पहुँचता है। अपने सुख और दुःख की कसौटी पर वह भले बुरे को भी पहचानने की चेष्टा करता है। अपने हाथों कार्य करने में उसे हर्ष होता है, उसके अंग अंग में प्रफुल्लता रहती है, मन में उत्सुकता रहती है और वह दूसरों की दृष्टि में कुछ करके अपनी विशेषता प्रस्तुत करना चाहता है। यह आयु सातवें से चौदहवें वर्ष तक की है। इस आयु में गान्धीजी अनिवार्य-शिक्षा देने की योजना प्रस्तुत करते हैं। इन सात वर्षों में शिक्षा निःशुल्क ही चाहिए, और वह भी ऐसी शिक्षा कि बालोत्सुकता को शान्त भी करे और वर्द्धन भी। शिक्षा का स्तर आधुनिक मैट्रिक के बराबर होगा। सात वर्ष की अवधि में इस व्यावहारिक मैट्रिक स्तर पूरा किया जाएगा—हाँ, बीच में अंग्रेजी का कोई स्थान नहीं होगा। शिक्षा मातृ-भाषा में दी जाएगी, परन्तु पाठ्यक्रम में एक हिन्दी भाषा भी होगी (जो कि बाद

में हिन्दुस्तानी नाम से निश्चित हुई और उसे देवनागरी या फ़ारसी किसी भी लिपि में लिखने की छूट मिली।) जो भारतवर्ष के सब प्रान्तों में अन्तर्प्रदेशीय व्यवहार की सफल योजना बना सकेगी। इस भाषा का नाम स्वप्रकट ही है। देश की संगठित विचार-धारा तथा एक सूत्र-बद्धता बनाए रखने के लिए ऐसी किसी भाषा की अपेक्षा होती ही है. अतः हम प्रा० एम. एस. पटेल से सहमत होते हुए इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि गान्धीवादी शिक्षा विश्व के मूलगत विज्ञानों, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शरीर-विज्ञान पर आधारित हैं। बुनियादी तालीम बालक को विशुद्ध सैद्धान्तिक या पुस्तकीय वातावरण से बचा लेती है और उसकी क्रियाशील रुचि की सन्तुष्टि का कारण बनती है, इसलिए मनोवैज्ञानिक है। प्रस्तुत शिक्षा क्रियाशील और उत्पादक है। देश भर के बालक एक ही ढर्रे पर शिक्षा प्राप्त करेंगे, सक्रिय रहेंगे और उत्पादन करेंगे। ऐसा करने से प्रादेशिक संकीर्णता का अन्त हो जाएगा और वे सब परस्पर अनेक होते हुए भी एक प्राण बने रहेंगे। उनमें परिश्रम के प्रति मोह होगा, वे मिलकर, कदम से कदम मिलाकर, आगे बढ़ेंगे, अतः उनमें सामाजिक उत्तरदायित्व के भाव पनपेंगे। यह शिक्षा शरीर-विज्ञान की भी उपेक्षा नहीं रखती। विद्यार्थियों को बौद्धिक परिपक्वता ही नहीं, अवयवी परिपक्वता प्रदान करने की योजना भी इसमें विद्यमान है। जाकिर हुसैन समिति ने इस पर मत प्रकट करते हुए लिखा था कि शारीरिक शिक्षा से मानवीय अस्तित्व अधिक पुष्ट और योग्य हो सकता है। गान्धीजी की शिक्षा-पद्धति पुरातन-रूढ़ियों के 3 Rs' पर नहीं, 3 Hs' पर आधारित है। यह रीडिंग (पढ़ना), राइटिंग (लिखना), रियमैटिक (गणित) ही तक सीमित नहीं, यह हैंड (हाथ), हैड (दिमाग़) और हॉर्ट (हृदय) की शिक्षा है।

बुनियादी तालीम की वर्धा-योजना—

वर्धा योजना गांधी जी के द्वारा वर्धा आश्रम की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित की गई थी। ग्राम को सर्वसम्पन्न इकाई के रूप में देखने के इच्छुक महात्मा गांधी, ग्राम की आत्म-निर्भरता को अपना लक्ष्य बनाए हुए थे और उसी लक्ष्य को व्यावहारिक बनाने के लिए प्रस्तुत योजना निर्णयात्मक रूप में सन् १९३७ में 'हरिजन' पत्र में घोषित की गई। २२, २३ अक्टूबर, १९३७ को वर्धा में बुलाई गई अखिल-भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सभा की बैठक में, जिसके प्रधान स्वयं महात्मा गांधी थे और जिसका उद्धरण हम पीछे दे चुके हैं, कुछ प्रस्ताव स्वीकृत किए गए थे। वास्तव में वे ही प्रस्ताव बुनियादी तालीम की नींव बने। सभा में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किए गए थे—

१. इस सभा की सम्मति में सात वर्ष तक की अवधि के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र में

निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

२. कि शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो।

३. कि इस समय की शिक्षा किसी न किसी उद्योग तथा उत्पादक कार्य के गिर्द सुसम्बद्ध होनी चाहिए। सभी प्रकार के पाठ्य-विषय, जहाँ तक सम्भव हो, बालक की परिस्थिति-अनुसार निर्वाचित उद्योग से सम्बद्ध हों तथा उसी माध्यम से बालक के सर्वाङ्गीण विकास का प्रयत्न किया जावे।

४. सभा यह आशा रखती है कि काल-क्रमानुसार शिक्षण की यह पद्धति अध्यापकों के वेतन का बोझ स्वयं सम्भालने का सामर्थ्य बना लेगी।

चौथे प्रस्ताव में आत्म-निर्भरता के विचार को मुख्य स्थान दिया गया है।

श्री जाकिर हुसेन कमेटी ने मार्च १९३८ में जो रिपोर्ट गांधी जी को पेश की, उसमें भारत की ग्राम्य-स्थिति का पूर्ण अध्ययन करने के बाद शिक्षा सम्बन्धी कुछ सम्मतियाँ भी दी गई थीं। सच पूछा जाए तो उपर्युक्त सभा में स्वीकृत होने वाले प्रस्तावों पर ही ये सब सम्मतियाँ आश्रित थीं। अतः तथ्य यह है कि वर्धा-योजना की रीढ़ ये सम्मतियाँ ही हैं, वे ही अपने में योजना हैं। प्रा० एम. एस. पटेल ने अपने थीसिस 'दि एड्युकेशनल फ़िलासॉफ़ी ऑफ महात्मा गांधी' में इस योजना के मुख्य सात स्तम्भों की ओर संकेत किया है—

१. अनिवार्य शिक्षा—राष्ट्र के लड़के और लड़कियों, दोनों के लिए सात वर्ष (सात वर्ष की आयु से चौदह वर्ष तक) की अवधि तक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य ठहराया गया। लड़कियों के विषय में माता-पिता को इतनी छूट अवश्य दी गई कि यदि वे चाहें तो १२ वर्ष की आयु में ही उन्हें पाठशाला से हटा सकेंगे। क्योंकि यह योजना अधिकतर भारतीय गांव के उद्धार को दृष्टि में रखकर बनाई गई थी, सम्भवतः इसीलिए इसमें अंग्रेजी शिक्षा को कोई स्थान न दिया गया। आज के युग में बालक जो कुछ दस वर्ष के समय में मैट्रिक तक पढ़ते हैं, जिसमें प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षाओं का समन्वय रहता है; वही शिक्षा, अतिरिक्त अंग्रेजी के, इस सात वर्ष के समय में पूरी की जाएगी। गांधी जी के मतानुसार उच्च-शिक्षा का प्रबन्ध वर्धा-योजना के अन्तर्गत नहीं हो सकता था, अतः वे शिक्षा की इस कोटि को व्यक्तिगत साधनों या शिक्षा-प्रेमी विद्यालय-संचालकों पर छोड़ देना ही श्रेय समझते थे। ऐसे व्यक्तिगत विद्यालय छात्रों को उनकी रुचि-अनुसार उद्योग, कला, साहित्य और दर्शनादि में उच्च शिक्षा दे सकेंगे। गांधी जी की योजना तो पहले केवल 'बुनियादी' अर्थात् शिक्षा की नींव रखने वाली ही थी, उच्च शिक्षा की ओर ध्यान देना तत्कालीन परिस्थितियों में असम्भव सा था। यह बात नहीं कि गांधी जी उच्च शिक्षा न चाहते हों! ऐसा भी नहीं कि बापू शिक्षा को ७—१४ की सीमा में

ही बांधना चाहते हों ! वे तो समयानुसार शिक्षा के उत्थान और विकास की ओर संकेत करते ही रहे हैं, और उनकी योजना का अन्तिम रूप ७–१४ का नहीं, अपितु आयु भर का है। गांधी जी तो मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को विद्यार्थी अवस्था मानते थे। तीसरी ही अखिल-भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा-सभा की बैठक में उन्होंने वर्धा-योजना की अवधि का रूप बदल कर उसे चार भागों में बांट दिया था। १. वयस्क-शिक्षा, जिसमें माता पिता की शिक्षा को विशेष स्थान दिया गया था। उनका मत था कि यदि माता-पिता स्वयं समझदार न होंगे, तो बालक के जन्म से लेकर उसकी बाल्यावस्था तक उसका पालन क्योंकर कर सकेंगे और वह भी भली रीति से। वे बालक की शिक्षा, माता द्वारा उसे गर्भ में धारण करने के दिन से ही आरम्भ करते हैं। वयस्क-शिक्षा की परियोजना इसीलिए की गई थी कि बालक के माता-पिता को बालक के जन्म से पहले इतना शिक्षित किया जा सके कि वे दोनों मिलकर बाल-शिक्षा की पृष्ठभूमि बन सकें। २. पूर्व-बुनियादी अर्थात् जन्म से लेकर सात वर्ष की आयु तक। इसमें गांधी प्रकृतिवादी प्रणाली पर बालक के नैसर्गिक विकास की ओर संकेत करते हैं। ३. बुनियादी-तालीम। ४. उच्च-शिक्षा या उत्तर-बुनियादी शिक्षा, जिसमें विशिष्ट-अध्ययन और विश्वविद्यालय के स्थायी स्तम्भों की ओर संकेत किया गया था। गांधी जी विश्वविद्यालयों को ऐसी सरकारी संस्थाओं के रूप में स्वीकार करना चाहते थे, जो विशुद्ध ढंग से केवल परीक्षा ही लें, इतना ही नहीं, वे विश्वविद्यालयों को भी सरकार पर बोझ नहीं बनाना चाहते थे, उनके विचार में वे भी आत्म-निर्भर हो सकते हैं—परीक्षा-शुल्क इकट्ठा करके।

२. उद्योग-केन्द्रित—जाकिर हुसेन समिति ने गांधी जी की विचारधारा से सहमत होते हुए शिक्षा को उद्योग-केन्द्रित करने की सम्मति दी। उद्योग का चुनाव शिक्षा के भिन्न विषयों को परस्पर सम्बद्ध करने की सम्भावना पर ही होना चाहिए। शिक्षा की सक्रियता में बालक की रुचियों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। निर्वाचित उद्योग (शिल्प) का अध्यापन क्रम पूर्वक तथा वैज्ञानिक ढंग से होना चाहिए ताकि बच्चों में कुशलता बढ़े और परिणाम लाभप्रद रहे। प्रयत्न यह होना चाहिए कि उद्योग शिक्षा का साधन भी हो और साध्य भी।

३. आत्म-निर्भरता—उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसके उत्पादन से कुछ आर्थिक लाभ हो सके—इतना कि कम से कम अध्यापकों का वेतन उससे निकल जाए। चौदह वर्ष की आयु का बालक इतना कुशल शिल्पी होना चाहिए कि वह शिक्षा के समाप्त होते ही कमाने की योग्यता रखे। दूसरी बात शिक्षा के बीच भी वह अपने लिए नहीं तो अपने अध्यापक के लिए कमाए। शिक्षा सम्बन्धी अन्य सभी सुविधाएँ, स्कूल का भवन, पुस्तकें, आसन, लेखन सामग्री प्रभृति सब सरकार की ओर से दी जाएं।

४. शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो—मातृ-भाषा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा बालक अपना हृदय खोल सकता है। यहीं उसका मानसिक विकास होगा। किसी भी अन्य भाषा के बोझ तले दबकर बालक का विकास अवरुद्ध हो सकता है।

५. शिक्षा की पृष्ठभूमि अहिंसावादी हो—गांधीवादी, यह शिक्षा जब आत्म-निर्भर होगी तो अपने आप ही अहिंसा की आदर्श पृष्ठभूमि बनती चली जाएगी। (पीछे यह स्थिति स्पष्ट की जा चुकी है)।

६. नागरिकता का आदर्श—बालक जो कि भावी नेता और राष्ट्र निर्माता हैं, अपनी समस्याओं को स्वयं समझने के तो योग्य होने ही चाहिएँ। उन्हें अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान होना जरूरी है। अतः इस योजना के अनुसार सक्रिय और कर्मण्य मानव पैदा किए जाएं जो परिश्रम से जी न चुराएँ और मजदूरी से शर्म न करें। वे मिलकर सब एक होंगे—परस्पर प्रेम से रह सकेंगे। घृणा, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष उनमें नहीं होगा। वे सच्चे नागरिक बन सकेंगे।

७. सहयोग की भावना पर वर्ग-निर्माण—उपर्युक्त विचारधारा मे नागरिकता का पाठ पढ़ने वाले छात्र अवश्य ही ऐसे वर्गों का निर्माण करेंगे, जो जुदा होते हुए भी परस्पर प्रेम के कारण एक होंगे।

जाकिर हुसैन समिति द्वारा प्रस्तुत की गई उपर्विणित सम्मतियों को एक ही दृष्टि में देखते हुए हम इस निश्चय तक पहुँच जाते हैं कि ये पूर्वालोचित गांधी जी के विचारों से ऍच भर भी इधर-उधर नहीं। अतः हम निष्पक्ष भाव से कहने का साहस करेंगे कि गांधी जी स्वयं ही बुनियादी-शिक्षा थे और बुनियादी-शिक्षा आज भी गांधी जी हैं। अब हम अपनी पहले से ही अपनाई पद्धति के सांचे में बुनियादी (गांधीवादी) शिक्षा को भी ढाल परखें।

गाँधीवादी शिक्षार्थी और उसकी शिक्षा—

बुनियादी तालीम भारत के उस निर्धन, साधनहीन, विपन्न ग्राम्य बालक को लक्ष्य बनाए है, जो जीवन में विकास की सुविधाओं के अभाव में अपनी सम्भाव्य-शक्तियों (Potentialities) को बीच में ही छुट जाने देता है, और जीवनाकांक्षाओं को दबाने के प्रयत्न में स्वयं दब जाता है। नाली के कीड़े की भांति, जिसने कभी उद्यान के उन्मत्त-समीर का एक भी झोंका नहीं पाया, वह नाली में पैदा होता, गन्दगी में पलता और मलिनता में ही मग्न बनता है। उसका जीवन सीमित-क्षेत्र में बंधा, पतन, ह्रास और अवनति का स्वरूप प्रस्तुत करता रहता है। गांधी जी ऐसे ही शिक्षार्थी का उद्धार चाहते थे। सम्भवतः उनकी सम्पूर्ण योजना भारत के

आधिक्य-पक्ष को दृष्टि में रखकर, गिरों को उठाने, मिटों को जिलाने तथा उपेक्षित को अपेक्षित बनाने के लिए ही बनाई गई थी! प्रस्तुत शिक्षा बाल-केन्द्रित थी, स्वाभाविक था कि बालक की मनोवृत्तियों, रुचियों तथा उद्वेगों के अध्ययनोपरान्त ही बालक के सक्रिय अध्यापन का प्रबन्ध किया जाता। शुरू शुरू में बापू ने यही निर्णय किया कि ७-१४ वर्ष की आयु ही बालक की उत्सुकता और कौतूहल का समय है, उसी में बालक अधिक से अधिक खोज और अनुसन्धान कर सकते हैं, सक्रियता में उन्हें रुचि होती है और दूसरों की नजरों में अपने लिए कोई विशेषता पैदा करने की अभिलाषा। अतः इसी विशिष्ट अवस्था के बालक-बालिकाओं को बापू ने अपने शिक्षार्थी बनाया। बुनियादी तालीम की यह आरम्भिक स्थिति थी। गांधी जी साधन-विपन्न होने के कारण इससे विस्तृत शिक्षा-क्षेत्र का विचार भी नहीं कर सकते थे। इसी छोटी सी अवधि में उन्होंने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा की पूर्ति कर डाली थी और साधन-हीनता का उपचार किया था, शिक्षा को उद्योग-केन्द्रित और आत्म-निर्भर बना करके। स्पष्ट ही वे कुछ और भी चाहते थे, मानव जीवन के केवल सात वर्ष के समय को विद्यार्थी जीवन मानने को उनका अन्तःकरण तैयार न था, परन्तु विवश थे, आगे बढ़ने के लिए उन्हें अभी प्रतीक्षा करनी थी।

समय की करवटों ने गांधी जी के स्वप्नों को स्थूलता प्रदान की। उन्होंने अपनी शिक्षा योजना का शिक्षार्थी एक विशेष सामयिक परिधि में बांधना उपयुक्त न समझा, और समय के बीतने के साथ साथ शिक्षार्थी की अवस्था तथा उसका शिक्षाकाल वर्षों की संकीर्ण सीमाओं से निकल कर सम्पूर्ण जीवन की उत्ताल तरंगों में तिरने को मुक्त कर दिया गया, अभिप्राय यह कि बालक-बालिका के गर्भ में आने के दिन से उसकी मृत्यु तक का सारा समय शिक्षार्थी जीवन घोषित कर दिया। महात्मा गान्धी गर्भ में पड़े बच्चे पर माता की क्रियाओं और विचारों का सांस्कारिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक समझते थे। अतः यदि भावी बालक को आदर्श नागरिक बनाने के विचार को सार्थक करना हो तो अनिवार्य होगा कि उसकी माता को आदर्श बनाया जाए। बालक के स्वास्थ्य के लिए माता को स्वस्थ रखा जाए, बालक की मानसिक उन्नति के लिए उसकी माता की मानसिक उन्नति की जाए, आदि। इसी विचार-भूमि पर बेसिक-शिक्षा के कार्य-क्रम में वयस्क-शिक्षा केन्द्रों तथा मातृ-गृहों के संचालन का समावेश हुआ। अब गान्धीवादी शिक्षार्थी ७-१४ वर्ष की आयु का बालक न रह गया, बल्कि गर्भाधान का अपरिपक्व बच्चा, शिशु, बालक, कुमार, युवक, प्रौढ़ और बूढ़ा सभी उस परिधि में बन्ध गये। पहली दो स्थितियों की शिक्षा मातृ-गृह में, दूसरी दो अवस्थाओं की शिक्षा बेसिक स्कूल में, पांचवीं गति की शिक्षा स्वानुभव

तथा सरकारी विश्वविद्यालयों में, अन्तिम दो दशाओं में शिक्षा का प्रबन्ध प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों में किया गया । इस प्रकार महात्मा गान्धी भारतीयों के लिए सदैव कुछ सीखने का सन्देश दे गए ।

प्रश्न उठता है, भिन्न अवस्थाओं के इन सभी शिक्षार्थियों की शिक्षा की विशेषताएं क्या होंगी ? उत्तर हम ऊपर 'गान्धी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों' में लिख आए हैं । शिक्षा का शिक्षार्थी-केन्द्रित होना, उद्योग-केन्द्रित होना, आत्म-निर्भर और अहिंसा-प्रधान होना, मातृ-भाषा को माध्यम बनाना और शिक्षा की अनिवार्यता पर जोर देना आदि वस्तुस्थितियां हमारे प्रसंगवश जगे प्रश्न का उत्तर हैं ।

पाठ्य-क्रम (Curriculum)—जाकिर हुसेन कमेटी ने बुनियादी तालीम के ७ वर्षों की अवधि के लिए एक निश्चित पाठ्य-क्रम निर्धारित करने की सिफारिश भी की । इस पाठ्य-क्रम में बुनियादी उद्योग या शिल्प के अतिरिक्त मातृ-भाषा, गणित, सामान्य-विज्ञान, समाज-शास्त्र, कला (चित्र, संगीत, लड़कियों के लिए नृत्य आदि) तथा सामान्य-भाषा हिन्दुस्तानी का समावेश किया गया । जाकिर हुसेन समिति ने तीन उद्योगों का सुझाव दिया था—१. खेती बाड़ी, २. गत्ते, लकड़ी या धातु का काम । ३. कातना और बुनना । इन तीनों में से कोई भी उद्योग साधारण पाठ्य-क्रम से सम्बद्ध रखा जा सकता है, ऐसा उनका मत था । गान्धीजी कातने और बुनने को ही अधिक महत्त्व देते थे, यही कारण है कि बेसिक शिक्षा में यह उद्योग अधिक प्रचलित हुआ । उनका ख्याल था कि बालक का अध्यापन क्रियाशील वातावरण में ही अधिक सबल और व्यवस्थित रहता है । अतः वे उद्योग को विशिष्ट विषय के रूप में नहीं, बल्कि सब विषयों के केन्द्र के रूप में अपनाना चाहते थे । गान्धीजी ने गांवों की निजी विशेषताओं को सम्मुख रख कर कहीं कहीं खेतीबाड़ी के उद्योग की भी आज्ञा दी है । वे मानते हैं कि ये ही दोनों ऐसे उद्योग हैं (इनमें भी कातना-बुनना अधिक) जिसमें बेसिक-शिक्षा की विधियां सक्रिय रह सकती हैं और सामान्य पाठ्य-विषयों का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है । पाठ्य-विषयों के क्षेत्र में मातृ-भाषा की शिक्षा को उद्योगोत्तर महत्त्व दिया गया । समिति ने इसपर इसलिए जोर दिया कि सदस्यों के मत में मातृ-भाषा ही बालक के भाव-विकास में सहायक हो सकती थी और इसी के माध्यम से छात्र सुगमतापूर्वक अपने विचार एक दूसरे पर प्रकट कर सकते थे । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समिति की यह सिफ़ारिश अक्षरशः सारयुक्त थी कि बालकों की शिक्षा का माध्यम भी मातृ-भाषा ही हो । सात वर्ष के मातृ-भाषा के अध्यापन के पश्चात् छात्र से यह आशा की जाती थी कि वह सबसे विश्वस्त और प्रवाह युक्त भाषा में बोल सके, व्यापारिक और व्यावहारिक पत्र लिख सके, शान्तिपूर्वक और मनन-पूर्ण पुस्तकाध्ययन कर सके, कोष तथा अन्य उद्धरणों का सफलतापूर्वक प्रयोग कर सके और

दैनिक जीवन के विषयों पर चर्चा कर सके । कविता-पाठ का उच्च कंठ-स्वर से पाठ कर सके तथा आनन्द लाभ करने की योग्यता बना ले । पढ़ाने का माध्यम उद्योग ही होगा । चर्खे के सम्बन्ध में हर बात पढ़ाई और लिखाई जाएगी । लिपि ज्ञान के लिए किसी अन्य साधन का अपनाया जाना स्वाभाविक है । गणित में बही-खाता, व्यापारिक लेखा, आदि रखने की जानकारी के अतिरिक्त साधारण नाप-तोल, जोड़, घाटा, गुणा, विभाजन आदि सिखाना ही बेसिक शिक्षा का लक्ष्य था ।

सामान्य ज्ञान में शरीर की सीमित परिधि से प्रकृति के विस्तृत प्रांगण तक, सब विज्ञानों का साधारण ज्ञान अपेक्षित माना गया । स्वास्थ्य-ज्ञान, शरीर-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, प्रकृति-ज्ञान आदि विषय अपने प्रारम्भिक-स्वरूप में बेसिक-शिक्षा के क्रम में अपना लिए गए । इनके अध्यापन में छात्रों को निरीक्षण तथा अनुसन्धान के प्रति प्रोत्साहन देते रहना अनिवार्य है । अहिंसा की पृष्ठभूमि पर निर्मित इस शिक्षा-भवन में विज्ञान का अध्यापन जीवन के लिए वरदान रूप में पढ़ाने की व्यवस्था अपेक्षित थी, न कि अभिशाप रूप में । विज्ञानाध्ययन का बड़ा लक्ष्य मानव-मात्र की सेवा होना चाहिए, गान्धी जी यही चाहते थे । सामान्यतः लड़के और लड़कियों का पाठ्य-क्रम बराबर होगा, परन्तु चौथे वर्ष में लड़कियों के लिए गृह-विज्ञान का समावेश श्रेयस्कर स्वीकार किया गया । छटे और सातवें वर्ष में तो लड़कियों को उद्योग छोड़ कर गृह-विज्ञान में ही विशिष्ट-शिक्षा पाने की छूट दे दी गई ।

सामाजिक विषयों में नागरिक-शास्त्र, इतिहास, भूगोल तथा नीति आदि को अपनाया गया । समय, स्थान और घटना के ज्ञान के साथ साथ उसकी शुद्धि-अशुद्धि की परख आदि समाज में सब कुछ अपेक्षित है । इतिहास द्वारा समय, भूगोल द्वारा स्थान, नागरिक-शास्त्र द्वारा घटना, नीति-शास्त्र द्वारा शुद्धि-अशुद्धि की परख आदि ज्ञान सूत्र-बद्ध रूप में देने की व्यवस्था की जाना, जरूरी समझा गया था । इस सामाजिक-अध्ययन से विस्तृत मानव-सहकारिता, वीर-पूजा, वातावरण में सुव्यवस्था, मातृ-भूमि के प्रति प्रेम, न्याय-प्रियता, सामान्य-धर्मों का पालन आदि गुण मनुष्य में उत्पन्न होते हैं । कुछ सीमा तक ललित-कलाओं की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया । बालक की उठती हुई कोमल भावनाओं की रक्षा के लिए चित्र-कला लगभग अनिवार्य समझी गई है । सौन्दर्य-प्रिय, आकार-रचयिता और भिन्नता में रुचि रखने वाला बाल-हृदय कला के माध्यम से विकसित किये जाने का प्रोग्राम बनाया गया । इससे बच्चों को निरीक्षण, स्मरण शक्ति और सुन्दर दृश्यों की परख करने की शिक्षा मिलती है और सामूहिक गीतों में तो उन्हें विशेष आनन्द मिलता है । बालकों को शास्त्रीय संगीत सिखाने की कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु स्वर की कोमलता का ज्ञान करवाना श्रेय हो सकता है । गीतों का चुनाव राष्ट्रीय, लोक, भक्ति तथा

ऋतु-विशेष सम्बन्धी गीतों से होना चाहिए।

बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में अतीव महत्त्वपूर्ण विषय उस भाषा का अध्ययन है, जो देश की प्रादेशिकता या प्रांतीयता को अन्तर्-प्रान्तीय बनाती है। क्योंकि बेसिक-शिक्षा का कार्य-क्रम सम्पूर्ण देश के लिए एक ही ढर्रे पर स्थित किया जा रहा था, और सबका माध्यम 'अपनी अपनी मातृ-भाषा' की सिफ़ारिश की जा चुकी थी, अतः प्रश्न पैदा हुआ कि मद्रास का बेसिक-विद्यार्थी पंजाब के बेसिक-विद्यार्थी से विचार-विनिमय क्योंकर करेगा। सम्भवतः इसी समस्या को सुलझाने के लिए जाकिर हुसैन समिति ने गान्धीजी के विचारों का साथ देते हुए देश भर में एक सामान्य भाषा के अध्यापन का अनुमोदन किया। इस भाषा को 'हिन्दुस्तानी' कहा गया। इसकी लिपि देवनागरी तथा फ़ारसी कोई भी हो सकती थी। वास्तव में यह भाषा हिन्दी और उर्दू का अनूठा मिश्रण ही है, कुछ पृथक् नहीं। बेसिक-शिक्षा के अध्यापकों के लिए भी बुनियादी तालीम के पाठ्य-क्रम में विद्यार्थी के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा नैतिक विकास का सम्यक् अवसर प्रस्तुत किया गया और ७ वर्ष की शिक्षा के बाद बालक को आत्म-निर्भर बना देने का आदर्श भी अपनाया गया है। दोनों ही गुण शिक्षण-पद्धति की महानता के प्रतीक हैं।

शिक्षण विधियाँ—उपरिवर्णित विषयों का अध्यापन क्योंकर किया जाए, इस प्रश्न के उत्तर में गान्धीजी शिक्षा के उद्योग-केन्द्रित होने की ओर संकेत करते हैं। अभिप्राय यह, कि अध्यापक को प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक विषय उद्योग के माध्यम से पढ़ाया जा सके। गान्धीवादी शिक्षा हाथ, सिर और हृदय की शिक्षा है, अतः क्रियाशीलता उसका आधार होना चाहिए। स्पष्ट ही ये दोनों विधियाँ—उद्योग से सम्बद्ध करके पढ़ाना तथा क्रियाशीलता—बेसिक शिक्षा की रीढ़ हैं। मान लीजिए कि कातने-बुनने का उद्योग शिक्षा का केन्द्र बनाया जाता है। तब कपास की उपज से लेकर कपड़े, दरी आदि की उत्पत्ति तक प्रत्येक व्यावहारिक कार्य के साथ अनेक विषय जोड़ने की साधना करनी पड़ेगी। कपास की उपज की परिधि में खेती-बाड़ी के नियम, ढंग और गुणादि सब कुछ बताये जा सकते हैं। तब कपास बटोरने, ओटने और पोनियाँ बनाने तक, रुचिपूर्ण साधारण क्रियाशीलता में बालकों को संलग्न रखा जा सकता है। तदुपरान्त पोनियों की परिगणना और तोलादि से गणित का जोड़-तोड़, घटाना-बढ़ाना आदि सिखाया जा सकता है। खेती-बाड़ी में खेतों की लम्बाई-चौड़ाई निकलवा कर ज्यामिति की नींव भी रखी जा सकती है। इसके बाद सिलाई में शिल्प-शिक्षा के साथ-साथ ज्ञानेन्द्रियों की परिपक्वता का साधन भी जुटाया जाता है।

प्रारम्भिक शिक्षा के तीन वर्ष समाप्त होने पर पाठ्य-क्रम में समाज-शास्त्र,

साधारण-विज्ञान, कला, आदि का समावेश भी कर दिया जाता है। गान्धीजी इन विषयों के अध्यापन के सम्बन्ध में भी क्रिया-शीलता को मुख्यता देने के पक्ष में हैं। सम्यक्-निरीक्षण (Accurate observation) तथा अनुसन्धान द्वारा खोज करने (Discover by experiment) की विधियों को लागू करने की प्रवृत्ति बेसिक-शिक्षा का मूल बन चुकी थी। इतिहास की शिक्षा के लिए नाटक और रंगमंच, भूगोल के लिए स्व-भ्रमण और प्रत्यक्ष साक्षात्कार तथा नागरिक-शास्त्र के अध्यापन के लिए दैनिक-जीवन के कर्त्तव्यों और अधिकारों का स्वरूप बालकों के सम्मुख प्रस्तुत करना सम्यक्-निरीक्षण के आदर्श नमूने थे। प्राकृतिक अध्ययन, प्राणीशास्त्र, भौतिक और रसायन विज्ञान आदि के अध्यापन में विद्यार्थियों को ठीक पथ-प्रदर्शन करते हुए उनके द्वारा अनुसन्धान करवाए जाना तथा संश्लेषण पद्धति द्वारा छात्रों को स्वयं परिणाम का निर्णय करने का अवसर देना बेसिक विधियों की विशेषताएँ हैं। गान्धीजी तो उत्तर-बेसिक शिक्षा के लिए भी अनुसन्धान, क्रियाशीलता, आत्मनिर्भरता और प्रादेशिक भाषा पर ही जोर देते रहे हैं और ज़ाकिर हुसेन समिति के बाद विशेषकर खेर-कमेटी ने भी गान्धीजी का पुष्ट समर्थन किया है।

बेसिक-शिक्षा और समाज—

हम गान्धीजी की विचारधारा में पीछे सामाजिक-उत्तरदायित्व तथा शिष्ट-व्यवहार की अकृत्रिम और स्वाभाविक शिक्षा की बात कह आए हैं। वहीं से हमें अनुमान करना होगा कि बेसिक शिक्षा के संचालक ने छात्र को समाज से बाहर ले जा कर शिक्षित करने या उसे समाज की परिधि से ऊँचा उठाकर पढ़ाने-लिखाने का विचार कभी न किया था। गान्धीजी जानते थे कि बालक समाज की इकाई है, वह सामाजिक प्राणी है, उसने समाज में पनपना, कुछ करना, कुछ बनना है; अतः आवश्यक है कि उसकी शिक्षा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करे। तत्कालीन समाज की सबसे बड़ी दुर्बलता (आज भी वह है) गान्धीजी निर्धनता, बेकारी, मिथ्याभिमान और असंगठन के रूप में अनुभव कर रहे थे। उनके सामने यही समस्या थी कि कौन सी शिक्षा इतनी समर्थ हो सकती है, जो इन दोषों का अन्त कर स्वार्थान्धता की आंधी से समाज को सहारा दे, उत्तरदायित्व के कूल पर खड़ा कर सके। ये ही कुछ परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण गान्धीजी ने बेसिक शिक्षा की नींव रखी थी, और उसे बाल-केन्द्रित, उद्योग-केन्द्रित तथा आत्म-निर्भर बनाने के स्वप्न देखते हुए बालकों में सहकारिता की भावना के विकास को लक्ष्य बनाया था। किसी भी उद्योग की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि सभी एक दूसरे का हाथ बटाएँ, मिलकर उद्देश्यपूर्त्ति करें, साधना की सफलता में अपनी अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पण करदें। ऐसा करने से अप्रत्याशित रूप में स्वयमेव बालकों

में सहयोग जागेगा, वे आगे बढ़ेंगे, दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे और अपने अधिकारों के पूर्ण उपभोग के लिए संघर्ष करेंगे। यही संघर्ष और साधना उनका जीवन बनाएगी, उन्हें समाज में सिर ऊँचा करने का सामर्थ्य प्रदान करेगी और वे सच्चे नागरिक बन देशोन्नति में सहायक होंगे। शिक्षा को उद्योग-केन्द्रित और आत्म-निर्भर बनाने से, महात्मा गान्धी के मतानुसार, सामाजिक में पुरुषार्थ-भाव की उत्पत्ति होती है। मिथ्याभिमान और दुर्बल-चित्तता का नाश होता है और बेकारी तथा निर्धनता की समस्याओं का प्राकृतिक-समाधान सामने आता है। भावी सामाजिक (छात्र) पहले से ही उद्योगशील अर्थात् पुरुषार्थी होता है, इसलिए उसे आज के कॉलिज-ग्रेजुएटों की तरह न तो मिथ्याभिमान होता है और ना हाथ से काम करने की शर्म। वह अपने व्यक्तित्व में पूरा होता है, शान से जीता है, अपने परिश्रम से जीवन-यापन करता है और आत्म-निर्भर होने के कारण उसे किसी के सम्मुख झुकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। नियमित रूप से वह अपने से लेकर राष्ट्र तक, सबके प्रति कर्तव्य पालन करता है। स्पष्ट ही ऐसे सामाजिकों या नागरिकों का सृजन करने वाली यह गान्धीवादी शिक्षा समाज की उलझनों और कठिन समस्याओं का निस्तार है। इसमें न केवल समस्याओं का हल ही मिल जाता है बल्कि समाज के नव-निर्माण के बीज भी अंकुरित होते दीख पड़ते हैं।

बेसिक शिक्षा और जीवनोद्देश्य—

बेसिक शिक्षा की नींव गान्धीजी की आदर्शवादी विचारधारा पर रखी गई थी। गान्धीजी का जीवन-लक्ष्य सर्वोदय या पूर्ण-सत्य (Absolute Truth) के साक्षात्कार से कुछ भी कम न था। प्रस्तुत लक्ष्य-प्राप्ति के साधन रूप में वे अहिंसा और प्रेम को अपनाना श्रेयस् मानते थे। दूसरी ओर थोड़े सामान्य-दृष्टिकोण से निहारा जाए तो यह भी स्वीकार किया जाता था कि जीवन लक्ष्य है और शिक्षा उसका साधन। अतः शिक्षा में अहिंसा और प्रेम को कुसुमित का जो विचार गान्धी जी ने प्रस्तुत किया था, वह न केवल मौलिक ही था, बल्कि महत्वपूर्ण भी था। इसी नींव पर बेसिक-शिक्षा का भवन खड़ा हुआ था और व्यक्तित्व के सम्पूर्ण और सर्वांगीण विकास को ही जीवनोद्देश्य मानकर, शिक्षा द्वारा उसकी प्राप्ति के स्वप्न देख जा रहे थे। जीवन से भारतीय संस्कृति के चार महान् आदर्श काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष अपेक्षित माने गए थे। यही कारण था कि बापू शिक्षा को मनुष्य के भौतिक, बौद्धिक, मानसिक, आध्यात्मिक विकास का आधार बनाना चाहते थे। भौतिक विकास द्वारा, जिसके दो भाग—शारीरिक और आर्थिक हो सकते हैं—जीवन के काम और अर्थ, (निम्न आदर्श) की उपलब्धि सम्भव है, ऐसी गान्धीजी की मान्यता थी।

तभी तो वे शिक्षा को, आत्म-निर्भर देखना चाहते थे। बौद्धिक और मानसिक विकास द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है। धर्म एक सामाजिक आदर्श है। जिसमें अधिकारों और कर्त्तव्यों की अनुरूपता रखी गई है। आध्यात्मिक विकास मोक्षप्रदाता कहा जा सकता है। इसमें श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और समर्पण पर गान्धीजी ने ज़्यादा ज़ोर दिया है।

उपर्युक्त विचारों से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जीवन के सभी उद्देश्यों को मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक रूपों में बाँटा जा सकता है। और बेसिक शिक्षा आवश्यकतानुसार इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति करती है। मनोवैज्ञानिक उद्देश्य का स्वरूप भौतिक और मानसिक दोनों खण्डों में दृष्टिगत होता है। बेसिक शिक्षा का बाल-केन्द्रित होना ही बालक के मनःशारीरिक अवयवीकरण (Psycho-Physical-Organism) की पुष्टि का प्रतीक माना जा सकता है। बालक की आंगिक सुदृढ़ता और मानसिक परिपक्वता शिक्षा के क्रियाशील क्षेत्र में भी उपलब्ध है। सामाजिक-उद्देश्य तो हम पृथक् भी लिख आए हैं। बालकों में परस्पर सहयोग, संगठन और उत्तरदायित्व की भावनाएँ उत्पन्न करने का बीड़ा पहले से ही बेसिक शिक्षा उठा चुकी थी, उसी का परिणाम सामाजिक उद्देश्य की सफल पूर्ति कहा जा सकता है। आर्थिक उद्देश्य की प्रकट अनुभूति प्रस्तुत पद्धति के उद्योग-केन्द्रित तथा आत्म-निर्भर होने में मिलती है। '१४ वर्ष की आयु का प्रत्येक लड़का, जब शिक्षा पूर्ण कर समाज में जाएगा तो वह कमाऊ होगा,' गान्धीजी पहले से ही इसे लक्ष्य बनाए थे। उनका ऐसा करने का कारण था समाज की निपट निर्धनता। अतः स्वाभाविक था कि वे उस निर्धनता की समस्या का हल भी सोचते. अन्यथा जीवन की पराकाष्ठा के स्वप्न अधूरे ही रह जाते। कहना न होगा कि गान्धीजी ने जीवन के आर्थिक पहलू को शिक्षा के माध्यम से जो अनूठा रूप दे दिया था, वह अद्वितीय था। अन्तिम और महानतम जीवनोद्देश्य आध्यात्मिक अर्थात् पूर्ण-सत्य से एकाकार या मोक्ष के रूप में अपनाया गया था। इसमें महात्मा गान्धी ने ईश्वर के एकत्व पर ज़ोर देते हुए, उसे मानवान्तर में खोजने की योजना प्रस्तुत की थी। वे मनुष्य की आत्मा को ईश्वर का ही एक अंश मानते थे, इसलिए शरीरों के भिन्न होते हुए भी उन्हें सब की समानता में विश्वास था और सबके एकत्व में श्रद्धा। तभी तो उन्होंने शिक्षा के माध्यम में 'प्रेम' का महा-मन्त्र और अमोघ अस्त्र प्रदान किया है, ताकि मनुष्य मनुष्य से प्रेम कर सके, मनुष्य के अन्तर में झाँक कर देख सके, परमात्मा (पूर्ण-सत्य) के दर्शन पा सके, उससे एकाकार कर सके और मोक्ष का अधिकारी हो। गान्धीजी के मतानुसार, यही जीवन लक्ष्य की पराकाष्ठा है।

गाँधीवादी शिक्षा के विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ—

पिछले पृष्ठों में गांधीवादी शिक्षा की सम्पूर्ण गतिविधि तथा आधारभूत विचार-धारा का स्वरूप जानने के बाद, सबसे पहला प्रश्न जो पाठक के मस्तिष्क में उठता है, वह है उसके उद्योग-केन्द्रित होने के सम्बन्ध में। क्या प्रत्येक विषय उद्योग के माध्यम से पढ़ाया जा सकता है? क्या शिक्षा के क्षेत्र में उद्योग पर ही सब से अधिक जोर देना जीवन में पूर्णता लाने के लिए श्रेयस् हो सकेगा? क्या यह सम्भव है कि एक ही उद्योग में राष्ट्र के सभी बच्चे रुचि लें? जब गांधीजी स्वयं शिक्षा को बालक की रुचि पर केन्द्रित करना चाहते हैं, तो क्यों व्यवसाय और उद्योग को बालक की रुचि पर नहीं छोड़ा जाता? आदि अनेक प्रश्न बुनियादी शिक्षा के विरुद्ध आपत्तियाँ बनकर जगते, पनपते और उत्तर की अपेक्षा रखते हैं। विचित्र बात है कि विद्यार्थी को इतिहास में शिवाजी और औरंगजेब के चरित्र पढ़ाने के लिए उद्योग का माध्यम अपनाया जाए! असम्भव! संसार में ऐसा कोई अध्यापक शायद नहीं मिल सकेगा जो सफलतापूर्वक उपरोल्लिखित कार्य कर सके। लेकिन क्या गांधी जी इस मोटे तथ्य को समझने में असमर्थ थे? नहीं, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण बनाते समय उन्होंने शिक्षा का उद्योग-केन्द्रित होना अपनी पद्धति की एक विशेषता मानी थी, परन्तु ज्यों ही व्यावहारिक स्वरूप उनके सामने आया, उन्होंने खुले-आम अपनी भूल स्वीकार की और विचार बदल लिया। प्रा० एम. एस. पटेल ने उनके बाद के लेखों की ओर संकेत करते हुए बताया है कि गांधी जी ने केवल प्रथम वर्ष की शिक्षा ही तकली के माध्यम से देने पर जोर दिया, उसके बाद अन्य सब प्रकार की क्रियाशील विधियाँ अपनाने की छूट दी। ठीक है कि उद्योग का स्थान फिर भी गांधी जी ने घटाया नहीं, परन्तु अन्य साधनों का समावेश उन पर व्यवहारवाद के प्रभाव का प्रत्यक्ष द्योतक है।

गांधी जी शिक्षकों का वेतन उद्योग के उत्पादन के विक्रय द्वारा पूर्ण करना चाहते थे। उनका विचार था कि वेतन २०) रुपये मासिक से किसी भी स्थिति में कम न होना चाहिए। एक प्रकार से उत्पादन के अधिक विक्रय पर शिक्षक के वेतन का दर आश्रित रहता था। अधिक उत्पादन पर वेतन भी अधिक होने की आशा अध्यापक को बनी रहती थी। स्पष्ट ही, इस पर यह प्रश्न उठ खड़ा होता है, कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक लोलुपता के कारण बच्चों की पढ़ाई की ओर अधिक ध्यान न देकर उत्पादन पर ही जोर देता रहेगा। अध्यापक बच्चों को भिन्न विषयों का ज्ञान देने की अपेक्षा सारा समय उनसे कताई, बुनाई ही करवाता रहेगा। ऐसे में छात्र क्या सीखेंगे? यहाँ गांधी जी शिक्षण को व्यवसाय का रूप न देकर मिशन

के रूप में देखने के स्वप्न लेने लगे। उनका मत था कि शिक्षक-गण मिशनरी का कार्य करेंगे, अतः कभी धन लोलुपता के कारण बच्चों की शिक्षा की उपेक्षा नहीं करेंगे। परन्तु क्या ऐसे अध्यापक मिलना कभी सम्भव हो सकेगा, जो २०) रुपये मासिक पाकर २४ घण्टे का समय अपने 'मिशन' के लिए अर्पण कर दे? उनके परिवार, स्त्री-बच्चे क्या खाएंगे? कहाँ से खाएंगे? आज मंहगी के युग में २०) रुपये मासिक में तो रहने को मकान भी नहीं मिलता। तभी गाँधी जी ने शिक्षा की इस अर्हता में संशोधन करते हुए मासिक वेतन ६०) से ७५) रुपये तक की मान्यता दे दी। परन्तु शिक्षक के लिए इतने में भी निर्वाह चलाना अभी समस्या ही है। युगानुसार ६०-७० रुपयों का कोई मूल्य ही नहीं, और विशेषकर जब भारतीय-पद्धति के अनुसार एक पर अन्य अनेक आश्रित भी हों। सच तो यह है कि अभी गाँधीजी के स्तर पर विचार करने वाले शिक्षकों की बहुत कमी है। शिक्षक लक्ष्मी और सरस्वती—दोनों की आराधना समान करना चाहता है। और इस ग्रामीण शिक्षण-पद्धति को अपना क्षेत्र चुनकर उसका पेट नहीं पल सकता। एक दूसरा घाटा और भी है। बेसिक-विधियों के अनुसार शिक्षा देने की योग्यता अर्थात् उद्योग के माध्यम से मुख्य विषयों की शिक्षा देने का सामर्थ्य रखने वाले अध्यापक पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं। उन्हें प्रस्तुत विधि के गुण-धर्म सिखाने के लिए, विशिष्ट ट्रेनिंग का प्रबन्ध होना चाहिए और वह भी उच्च स्तर पर। परन्तु गाँधीजी तथा अन्य समितियों ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया और जो शिक्षकों की ट्रेनिंग का कुछ उपक्रम किया भी गया तो मिशनरी साहस को अपनाकर क्षेत्र में कार्य करने वालों की काफ़ी कमी हो रही है।

कभी कभी कुछ शिक्षा-शास्त्रियों को ऐसा भी कहते सुना जाता है कि गाँधीवादी शिक्षा बीसवीं शताब्दी की भौतिक-प्रगति को पुनः बहुत पीछे घसीट ले जाना चाहती है। इसमें बदले हुए समय के अनुसार कोई भी गुण नहीं, वही ब्राह्मण-युग के गुरुकुलों का वातावरण और वही सड़ी सी विधियां गांधीजी फिर से अपना लेना चाहते हैं। परन्तु सम्भवतः ऐसी आपत्ति करने वाले गर्दन को कुण्ठित किये हुए सामने देख रहे हैं। जरा नीचे नहीं देखते। भारत में आधुनिक प्रगतिशील-शिक्षा का क्षेत्र बहुत संकुचित और सीमित है। भारत की ८५ प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है, और वे गाँव आज भी ब्राह्मण-युग से कुछ परिवर्तित नहीं कहे जा सकते। उनकी शिक्षा के लिए उन्ही के वातावरण और परिस्थितियों को लक्ष्य बनाना होगा। इसी में विजय है, यही समझदारी है। अतः यह कहना कि गाँधीजी समय के साथ नहीं चले, कुछ जँचता नही। उन्होंने तो वास्तव मे समय को ठीक पहचाना है, और उसकी माँग को परिस्थिति-अनुकूल पूरा करने के लिए बेसिक शिक्षा की

प्रणाली की योजना प्रस्तुत की है।

डॉ० पटेल ने अपने थीसिस में कुछ लोगों के मतानुसार एक और आपत्ति पेश की है। गांधीवादी शिक्षा संवेगात्मक (Sentimental) है। ऐसा दीख पड़ता है कि परियोजक महाशय अपने आन्तरिक संवेगों से पराभूत होकर दूसरे को भी इसी रंग में रंगा देखने का लोभ संवरण न कर सकने के कारण, शिक्षा का स्वरूप घड़ते हैं। महात्मा गांधी एक आदर्शवादी विचारक थे। उनके सम्मुख सत्य की खोज ही ईश्वर-मिलन था और खोज के मार्ग थे अहिंसा और प्रेम। सत्य की खोज गांधीजी की आन्तरिक संवेदना थी, जो कि विकसित होते होते संवेग का रूप धारण कर चुकी थी—प्राप्ति के माध्यम का प्रचार उनके लिए स्वाभाविक था, क्योंकि वह दूसरों को भी उसी रास्ते पर चलाकर परम-सत्य की उपलब्धि करना चाहते थे। और संसार की यह पुरानी रीति है कि जब भी किसी विचारक ने दुनिया को अपने मत से सहमत करना चाहा, वह शिक्षा-शास्त्री बन बैठा और अपने विचारों को शिक्षण-विधियों और लक्ष्य-उद्देश्यों के सांचों में ढाल ढाल कर दूसरों के अन्तर्मन में उतारता रहा। यही स्थिति गांधी जी की भी थी। उनके ऊपर एक विशिष्ट आरोप करना कि वे संवेगात्मक शिक्षा का प्रचार करते थे, लगभग उनसे अन्याय हो जाएगा। और फिर वह शिक्षा ही क्या जो शिक्षा-शास्त्री के विचारों को दूसरों पर अंकित न कर सके।

बेसिक शिक्षा के विरुद्ध इन आपत्तियों के अतिरिक्त छोटी छोटी अनेक शिकायतें और भी उठती हैं। ७ वर्ष की अवधि में पीछे दिया गया पाठ्य-क्रम पूरा नहीं करवाया जा सकता, प्रत्येक बालक १४ वर्ष की आयु में कमाऊ नहीं बन सकता, उद्योग में सभी छात्रों की रुचि बराबर नहीं हो सकती, प्रस्तुत-पद्धति में लगभग उच्च शिक्षा की उपेक्षा ही कर दी गई है, मातृ-भाषा पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि सातों वर्षों तक एक ही अध्यापक सारे विषय निम्नतम से उच्च-स्तर तक पढ़ाता रहेगा, विद्यालय एक शिक्षक वाले ही होंगे, शिक्षा आत्म-निर्भर कदापि न हो सकेगी, गांधीजी ने सरकार से पूरी सहायता पाने की आशा पहले से ही अपने सम्मुख रख छोड़ी थी—यह विचार नहीं किया गया था कि सम्भवतः सरकार इतना बोझ उठाने की शक्ति न रखती हो, प्रभृति अनेक शिकायतें गांधीजी और उनकी शिक्षण-पद्धति के सम्बन्ध में दीख पड़ती हैं। परन्तु इन सबसे यह अनुमान लगा लेना कि गांधीवादी शिक्षा दोषों और त्रुटियों से ही भरपूर है, हमारी नादानी होगी। वास्तव में गांधीजी ने हमें जो भी दिया, महान् विचारधारा, उसका सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप तथा उसे व्यवहार में रखने के परिस्थित्यनुकूल अपेक्षित साधन, जीवन के उच्च लक्ष्य,

उपसंहार : गाँधीवादी शिक्षा—एक सम्मिश्रण

गांधीवादी विचारधारा तथा उसके व्यावहारिक रूप 'शिक्षा' का विस्तृत उल्लेख हम पीछे कर आए हैं। उसके अध्ययन से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीवादी शिक्षा कोई निराली पद्धति नहीं, बल्कि पूर्वायोजित अनेक प्रणालियों का सम्मिश्रण मात्र है। पुस्तक के पहले खण्डों में हम आदर्शवाद, प्रकृतिवाद तथा व्यवहारवाद का स्वरूप देख चुके हैं, गांधीवाद को यदि इन तीनों का समन्वय कहा जाए, तो कोई अत्युक्ति न होगी। आदर्शवादी लक्ष्यों को प्रस्तुत शिक्षण-पद्धति ने बिना किसी प्रकार के फेर-फार के अपनाया है। अन्य आदर्शवादी विचारकों की भाँति गांधी जी भी सत्य के अन्वेषण और आत्म-ज्ञान पर जोर देते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में गांधी जी अन्तरात्मा की आवाज सुनने की ओर जो संकेत देते रहे हैं, वे ही बाद में सत्याग्रही मनोवृत्ति की नींव बन गये हैं। सत्याग्रह भी केवल नैतिक और चारित्रिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए एक अहिंसा प्रधान साधन माना गया था, किसी प्रकार की स्वार्थ पूर्ति के लिए सत्याग्रह का आश्रय लेना गांधीजी के विचारों में सत्य का अपमान था। सेवा, शान्ति, संयम् तथा आत्मानुभूति द्वारा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का स्वरूप गांधी जी ने जनता के सम्मुख रखा था। वे सत्यान्वेषी के लिए घर-बार छोड़कर वनवास करने के पक्ष में कभी नहीं थे। समाज में रहते हुए, निजी कर्त्तव्यों का पालन करते हुए और जीवन की पावनता बनाए रखकर सत्य की खोज करना ही आदर्श है—इस दृष्टिकोण को अपनाने वाली विचारधारा स्वभावतः ही आदर्शवादी है और गांधीवादी शिक्षा का, जो गांधी जी के इन्हीं विचारों पर स्थित है, आदर्शवादी होना स्वप्रकट ही है।

गांधीवादी शिक्षा प्रकृतिवादी भी है, 'गांधी जी जैविकीय-प्रकृतिवाद को ही अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि इसमें मानव-प्रकृति के पूर्ण विकास का सुअवसर मिलता है।'[1] गांधी जी का विश्वास है सभ्यता के अनुचित आवरण में ढक जाने के कारण मनुष्य अर्धमानव बनकर रह गया है। उसके विकास के बहुत से अवसर लगभग, चाहते हुए भी, कुचले जा रहे हैं। शिक्षा का पुस्तकीय और सैद्धान्तिक होने के कारण बालक को बालपन की प्रवृत्तियों और बचपन की चंचलता का दमन

---

१. M. S. Patel—Educational Philosophy of M. Gandi.

GLOSSARY

A

Absolute	सर्वथा
Accurate observation	सम्यक् निरीक्षण
Acquisitio, instinct of	संग्राहकता-वृत्ति
Active	क्रिया-शील
Aesthetics	सौन्दर्य शास्त्र
Aesthetic-sense	सौन्दर्य परक ज्ञान
Algebra	अंक गणित
Analogy	सिद्धान्त
Anti-intellectualism	विरोधी-प्रज्ञावाद
Appeal, instinct of	दैन्यवृत्ति
Associating	समन्वय करना
Astronomy	खगोल विद्या
Audio-visual aid	बाह्य सहायता

B

Behaviourism	आचरणवादी मनोविज्ञान
Biological	जैविकीय
Biology	जीव विद्या
Bio-psychological	जैविकीय-मनोवैज्ञानिक
Bipolar process	द्विमुखी प्रवृत्ति

C

Categorical imperative	नियत-कर्तव्य, नियत-नियम
Character	चरित्र
Chemistry	रसायन-शास्त्र
Combate, instinct of	युयुत्सा
Commercial	व्यापारिक
Conclusion	सम्बद्ध-प्रतिक्रिया
Conditioned-response	निष्कर्ष
Conduct	आचरण
Constructiveness, instinct of	सृजनात्मक वृत्ति
Contingently	अनिश्चित रूप से
Conversational-method	वार्तालाप-विधि

Correspondence	पत्र व्यवहार
Cosmology	विश्व-विद्या
Craft-centred	उद्योग-केन्द्रित
Cultural-epoch theory	संस्कृति-युग-सिद्धान्त
Curiosity, ins inct of	कौतूहल या जिज्ञासा
Curriculum	पाठ्य-क्रम

D

Debating	वाद-विवाद
Descriptive	निर्देशात्मक
Destination	गन्तव्य-स्थान
Didactic material	प्रवोधक-सामग्री
Direct instruction	प्रत्यक्ष-निर्देश
Discussion method	तर्क-विधि
Disintegration	विघटन
Dramatics	नाटक-विधि
Dualism	द्वैतवाद
Dynamic	परिवर्तनशील

E

Element	तत्त्व
Emergent-evolution	आकस्मिक-विकास
Emotion	आवेग
Energy, test ef	ऊर्जा-परीक्षण
Epistemological	शास्त्रीय
Epistemology	ज्ञान-शास्त्र, ज्ञान-सिद्धान्त
Escape, instinct of	प्लायन-वृत्ति
Eternal	नित्य
Ethics	नीति-शास्त्र
Experiment	प्रयोग
Experimentalism	प्रयोग-वाद
Extra-curricular activities	पाठ्य-क्रमेतर गतिविधियाँ

F

Facts	तथ्य
Feeling	चेतनता, अनुभूति
Fine-Arts	ललित-कलाएं
Finite	परिमित
Flexible	लचीला
Follow-nature	प्रकृति का साथ दो
Food-seeking, instinct of	भोजनान्वेषण-वृत्ति

Force — शक्ति
Formal steps — नियमित पद

G

Geography — भूगोल
Gregariousness, instinct of — सामूहिक-प्रवृत्ति

H

Hero-worship — वीर पूजा
Hypothesis — कल्पना या अनुमान
Hypothetical result — कल्पित-परिणाम

I

Idealism — आदर्शवाद
Idealism, objective — भौतिक आदर्शवाद
Idealism, personal — व्यक्तिगत आदर्शवाद
Idealism, subjective — आश्रयी-प्रधान आदर्शवाद
Image — प्रतिछाया
Imitation — अनुकरण-विधि
Individuality — व्यक्तित्व
Industrial arts — औद्योगिक कलाएं
Infinite — अपरिमित
Inhibition — प्रतिरोधन
Inner spiritual growth — आन्तरिक-आध्यात्मिक-विकास
Instincts — मूल-वृत्तियां
Institutional — संस्था सम्बन्धी
Instrumentalism — उपकरण-वाद
Instruments — उपकरण
Integration — संयोजन
Intellectualism — प्रज्ञावाद, बुद्धिवाद
Intellectual — बौद्धिक
Intelligence, measurement of — बुद्धि का माप
Intelligence test — बुद्धि सम्बन्धी परीक्षण

K

Kindergarton — बालोद्यान
Knowledge — ज्ञान

L

Laboratory method — प्रयोगशाला-विधि
Laughter, instinct of — हास्य वृत्ति
Lecture method — व्याख्यान-विधि

Liberal Education	उदार-शिक्षा
Living cell	जीवित कोशिका

M

Manifestation	प्रकटीकरण
Major premises	प्रधानाधार
Mathematics	गणित
Materialism	भौतिक-वाद
Mating-propensity	कामवृत्ति या यौनेच्छा
Matter	पदार्थ
Mechanical principle of nature	प्राकृतिक चुनाव का यान्त्रिक-सिद्धान्त
Mental	मानसिक
Metaphysical	पराभौतिक
Metaphysics	तत्त्व-ज्ञान
Minor premises	गौणाधार
Monism	अद्वैतवाद
Moral	नैतिक

N

Natural impulses	नैसर्गिक संवेदनाएं
Naturalism	प्रकृतिवाद
Natural Method	प्राकृतिक विधि
Non-dualism	अद्वैत वाद
Non-institutional	संस्था-विहीन
Normative	आदर्शात्मक

O

Objective tests	वाह्य-परीक्षण, वैषयिक परीक्षण
Observation trips	निरीक्षण यात्राएं
Opinion	सम्मति

P

Paidocentric	बाल केन्द्रीय
Passive	निष्क्रिय
Passivity	निष्क्रियता
Paternal instinct	शिशु-रक्षण या वात्सल्य-भाव
Perfection, will to	पूर्ति की वाञ्छा
Perceiving	जानना
Personality	व्यक्तित्व
Personality-trait	व्यक्तित्व की रेखा

Philosophy	दर्शन
Physical education	शारीरिक-शिक्षा
Physics	पदार्थ-विज्ञान
Pluralism	बहुत्व-वाद
Policy	नीति
Positive	विधेयात्मक
Potential capacities	सम्भाव्य शक्तियां
Potential intellect	गर्भित विवेक
Potentiality	मानस की गुप्त शक्ति, सम्भाव्यता
Practical	व्यावहारिक
Practice	अभ्यास
Pragmatism	व्यवहार वाद
Principles	सिद्धान्त
Probability	सम्भावना
Professional	व्यावसायिक
Progressive	प्रगतिवादी
Project-method	आयोजन-विधि या परियोजना
Propensities	जन्मजात प्रवृत्तियां
Psychology	मनोविज्ञान
Purposive	संकल्पयुत

Q

Question-method	प्रश्नविधि

R

Rationalism	तर्कवाद
Recalling	चिन्तन करना
Recapitulation	पुनरावृत्ति
Reconstruction	पुनर्निर्माण
Record	आलेखन
Relatively	अन्यापेक्षित
Renaissance	पुनर्जागरण
Repulsion, instinct of	निवृत्ति
Retaining	धारण
Retrospection	पश्चाद्-दर्शन
Rigid	स्थिर

S

Self-activity	आत्म क्रियाशीलता
Self-assertion, instinct of	आत्म-गौरव
Self-consciousness	आत्म-ज्ञान

Self-direction	आत्म-निर्देशन
Self-expression	आत्माभिव्यक्ति
Self-help	आत्म-सहायता
Self-hood	निजत्व या व्यष्टित्व
Self-realisation	आत्म-ज्ञान
Self-supporting	आत्म-निर्भर
Sense training	एन्द्रिय-ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा
Sentimental	संवेगात्मक
Silent-observer	मौन-प्रेक्षक
Sociology	समाज-शास्त्र
Socrates	सुक़रात
Spiritual	आध्यात्मिक
Stimulus	उत्तेजक
Story telling	कहानी सुनाना
Struggle for existence	जीवन के लिए संघर्ष
Style	रीति
Sublimation	शोधन
Submission, instinct of	शरणागति
Summum-Bonum	उच्चतम शिव, परम-शिव
Survival of the fittest	योग्यतम ही जीता है
Syllogism	मध्यपदी-अनुमान

T

The Good	सुमंगलम् या शिवं
Theoretical	सैद्धान्तिक
Thinking	विचार शक्ति
Transcendental goal	गुप्त-विशिष्टता
Trial and Error	अशुद्ध-प्रयत्न

U

Universal	सार्वलौकिक
Universal mind	विश्व मानस्

V

Value	महत्त्व, आदर्श, मूल्य
Vocational Education	औद्योगिक शिक्षा

W

Willing	वान्छा

पारिभाषिक शब्दावली

अ

अङ्क गणित	Algebra
अद्वैतवाद	Non-dualism or Monism
अन्यापेक्षित	Relatively
अनिश्चित :	Contingently
अनुकरण विधि	Imitation
अनुभूति	Fee ing
अनुमान	Hypothesis
अपरिमित	Infinite
अभ्यास	Practice
अनुरु-प्रयत्न	Trial and Error

आ

आकस्मिक विकास	Emergent evolution
आचरण	Conduct
आचरणवादी मनोविज्ञान	Behaviourism
आत्माभिव्यक्ति	Self-expression
आत्म-क्रिया शीलता	Self-activity
आत्म-गौरव	Instinct of Self-assertion
आत्म-निर्देशन	Self-direction
आत्म-निर्भर	Self supporting
आत्म-सहायता	Self-help
आत्म-ज्ञान	Self-consciousness or Self-realisation
आदर्श	Value
आदर्शात्मक	Normative
आदर्शवाद	Idealism
आध्यात्मिक	Spiritual
आन्तरिक-आध्यात्मिक-विकास	Inner spiritual growth
आलेखन	Record
आयोजन-पद्धति	Project-method
आयोजन-विधि	Project-method
आवेग	Emotion

आश्रयी-प्रधान आदर्शवाद	Subjective Idealism
	उ
उच्चतम शिव	Summum-Bonum
उत्तेजक	Stimulus
उद्योग-केन्द्रित	Craft-centered
उदार शिक्षा	Liberal education
उपकरण	Instruments
उपकरण-वाद	Instrumentalism
	ऊ
ऊर्जा परीक्षण	Energy, test of
	ए
इन्द्रिय-ज्ञान	Sense-training
	औ
औद्योगिक-कलाएं	*Industrial arts*
औद्योगिक-शिक्षा	*Vocational education*
	क
कल्पना	Hypothesis
कल्पित-परिणाम	Hypothetical result
क्रिया शील	Active
कहानी सुनाना	Story telling
काम-वृत्ति	Mating-propensity
कौतूहल-वृत्ति	Instinct of Curiosity
	ख
खगोल-विद्या	Astronomy
	ग
गौणाधार	Minor premises
गणित	Mathematics
गन्तव्य-स्थान	Destination
गर्भित-विवेक	Potential intellect
गुण-विशिष्टता	Transcendental goal
	च
चरित्र	Character
चिन्तन करना	Recalling
चेतनता	Feeling

ज

जन्म जात प्रवृत्तियां	Propensities
जानना	Perceiving
जिज्ञासा-वृत्ति	Instinct of Curiosity
जीवन के लिए संघर्ष	Struggle for existence
जीव-विद्या	Biology
जैविकीय	Biological
जैविकीय मनोवैज्ञानिक	Bio-psychological

त

तत्त्व	Element
तत्त्व ज्ञान	Metaphysics
तथ्य	Facts
तर्क-वाद	Rationalism
तर्क-विधि	Discussion-method

द

दर्शन	Philosophy
द्विध्रुवी प्रवृत्ति	Bipolar process
द्वैतवाद	Dualism
दैन्य वृत्ति	Instinct of Appeal

ध

धारण	Retaining

न

नाटक-विधि	Dramatics
निजत्व	Self-hood
नित्य	Eternal
नियत कर्तव्य	Categorical imperative
नियमित पद	Formal steps
निर्देशात्मक	Descriptive
निरीक्षण यात्राएं	Observation trips
निवृत्ति	Repulsion, instinct of
निरपेक्ष (नियत) नियम	Categorical imperative
निष्क्रिय	Passive
निष्क्रियता	Passivity
निष्कर्ष	Conclusion
नीति	Policy
नीति-शास्त्र	Ethics
नैतिक	Moral

बालोद्यान	Kindergarton
बाल केन्द्रिय	Paidocentric
बाह्य परीक्षण	Objective tests
बाह्य सहायता	Audio-visual aid
बुद्धि का माप	Measurement of intelligence
बुद्धिवाद	Intellectualism
बुद्धि सम्बन्धी परीक्षण	Intelligence test
बौद्धिक	Intellectual

भ

भावी-शक्ति	Potentiality
भूगोल	Geography
भोजनान्वेषण वृत्ति	Instinct of Food-seeking
भौतिक-आदर्शवाद	Objective Idealism
भौतिक-वाद	Materialism

म

मध्यपदी अनुमान	Syllogism
मनोविज्ञान	Psychology
महत्त्व	Value
मानसिक	Mental
मूल्य	Value
मौन-प्रेक्षक	Silent observer

य

यान्त्रिक	Mechanical
युयुत्सा	Instinct of Combate
योग्यतम ही जीता है	Survival of the fittest
यौनेच्छा	Mating-propensity

र

रसायन शास्त्र	Chemistry
रीति	Style

ल

लचीला	Flexible
ललित कलाएँ	Fine Arts

व

व्याख्या विधि	Lecture-method
व्यापारिक	Commercial
व्यावसायिक	Professional

व्यावहारिक	Practical
व्यवहारवाद	Pragmatism
व्यक्तिगत आदर्शवाद	Personal Idealism
व्यक्तित्व	Personality
व्यक्तित्व की रेखा	Personality-trait
व्यष्टित्व	Individuality
वान्छा	Willing
वात्सल्य भाव	Paternal instinct
वाद-विवाद	Debating
वार्तालाप विधि	Conversaitonal-method
विघटन	Disintegration
विचार शक्ति	Thinking
विधेयात्मक	Positive
विरोधी प्रज्ञावाद	Anti-intellectualism
विश्व-मानस्	Universal mind
विश्व विद्या	Cosmology
वीर पूजा	Hero-worship
वृत्तियाँ	Instincts
वैषयिक परीक्षण	Objective tests

श

शरणागति	Instinct of Submission
शक्ति	Force
शारीरिक शिक्षा	Physical education
शास्त्रीय	Epistemological
शिशु-रक्षण वृत्ति	Paternal instinct
शोधन	Sublimation

स

स्थिर	Rigid
संकल्पयुत	Purposive
संस्कृति-युग-सिद्धान्त	Cultural-epoch theory
संग्राहकता-वृत्ति	Instinct of Acquisition
संस्था-सम्बन्धी	Institutional
संस्था-विहीन	Non-institutional
समाज-शास्त्र	Sociology
समेकन	Integration
समन्वय करना	Associating
सम्भावना	Probability
सम्भाव्यता	Potentiality
सम्भाव्य शक्तियाँ	Potential capacities

सम्मति	Opinion
सम्बद्ध-निरीक्षण	Conditioned response
सम्यक् निरीक्षण	Accurate observation
संवेगात्मक	Sentimental
सर्वथा	Absolute
सामूहिक वृत्ति	Instinct of Gregariousness
सार्वलौकिक	Universal
सिद्धान्त	Analogy, Principles
सुकरात	Socrates
सुमंगलम्	The good
सृजनात्मक-वृत्ति	Instinct of Constructiveness
सैद्धान्तिक	Theoretical
सौन्दर्य परक ज्ञान	Aesthetic-sense
सौन्दर्य शास्त्र	Aesthetics

ह

हास वृत्ति	Instinct of Laughter

ज्ञ

ज्ञान	Knowledge
ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा	Sense-training
ज्ञान शास्त्र	Epistemology

Books Recommended for Further Study

Serial No.	*Name of the Book*	*Name of the Author*
1.	The Forty-first year book of the National Society for the study of education Part I (Philosophies of Education)	
	(*a*) An Idealistic Philosophy ...	H. H. Horne
	(*b*) In defence of Educational Philosophy ...	M. J. Adler
2.	An Idealistic View of Life ...	Radha Krishnan
3.	A Philosophy of Ideals ...	Brightman
4	Aims of Education ...	A. N. Whitehead
5.	The Philosophical Bases of Education ...	Robert R. Rusk
6.	Groundwork of Educational Theory ...	James S. Ross
7.	Foundations of Method ...	W. H. Kilpatrick
8.	Modern Educational Theories ...	B. H. Bode
9.	Democracy and Education ...	J. Dewey
10.	Problems of Men ...	—do—
11.	Education, its Data and First Principles ...	Nunn T. P.
12.	Emile ...	J. J. Rousseau
13.	The Evolution of Educational Theory ...	J. Adams
14.	Pragmatism and Psychology ...	James W.
15.	The History of W. Education ...	W. Boyd
16.	Republic ...	Plato
17.	The Philosophy of Education ...	H. H. Horne
18.	Ends and Means ...	Aldous Huxley

19. A text book in the History of Education ... Monroe
20. A Modern Philosophy of Educationists ... Thomson
21. Ancient Indian Education ... R. K. Mukerji
22. What Education Means ? ... H. R. Bhatia
23. The Doctrine of the Great Educationists ... Rusk
24. Reconstruction in Philosophy ... Dewey J.
25. Educational Philosophy of M. Gandhi ... M. S. Patel
26. Basic Education ... Gandhi
27. Wardha Educational Scheme ... (Report)
28. John Dewey's Philosophy of Education ... Arudt R. S.
29. Four Philosophies and their Practice in Education and Religion ... Butler J. D.
30. Philosophy of Education ... Kilpatrick W. H.
31. A First Course in Philosophy of Education ... Sayers E. V.
32. भारतीय शिक्षा का इतिहास तथा आधुनिक शिक्षा-शास्त्री ... मनमोहन सहगल तथा हेमराज निर्मम